सिद्धयोग

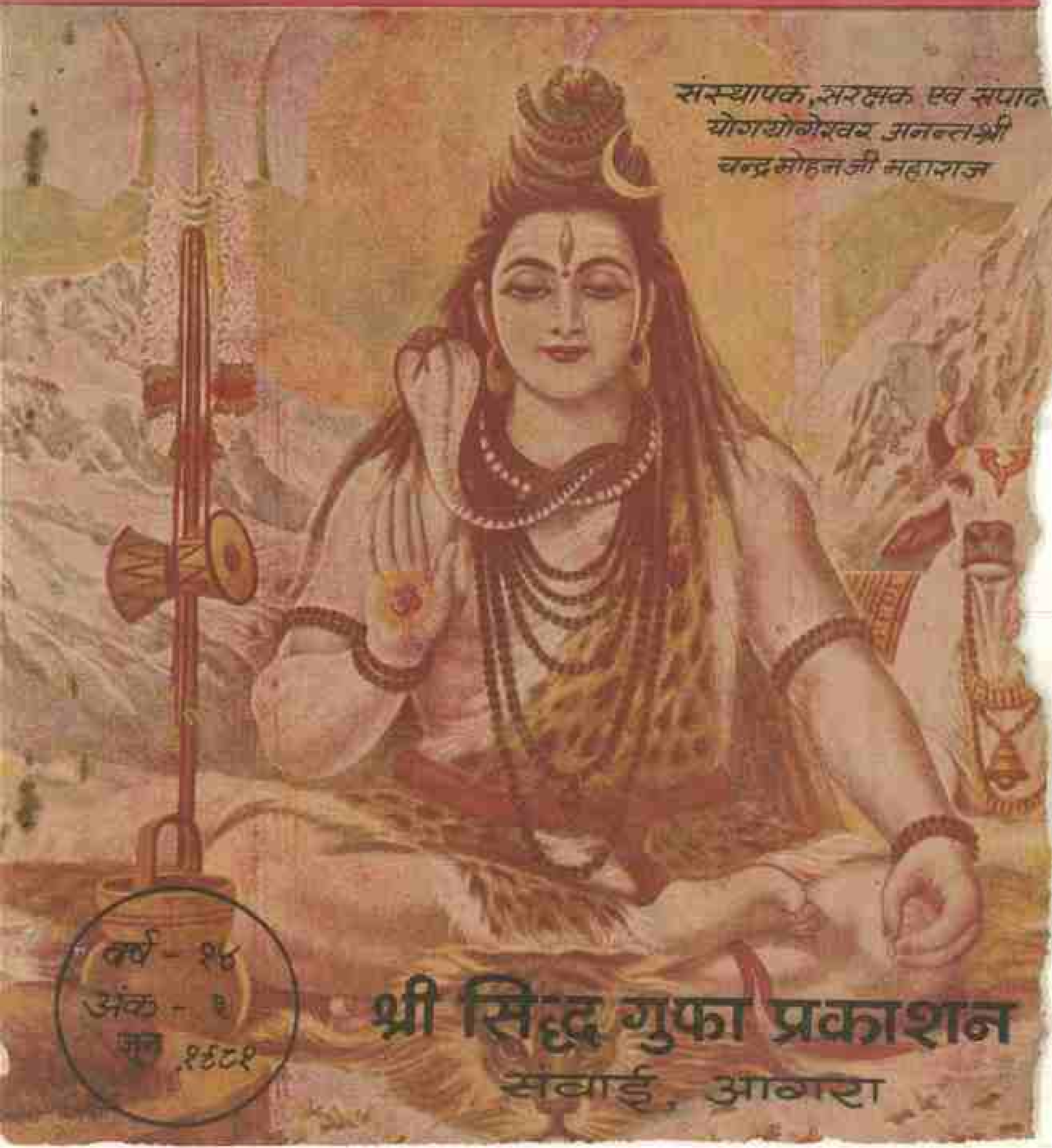

संस्थापक, संरक्षक एवं संपाद
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष - २८
अंक - ६
जून १९८१

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

✽ मृत्युपाशांश्छिनत्ति

✽ वर्ण-भेद एवं योगाधिकार (विशेष लेख)
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज २

✽ वाक्यपुष्पोपहारम्
श्री द्वारिकाप्रसाद शर्मा ६

✽ भगवत्प्राप्ति का सुगम साधन नाम-स्मरण
श्री जी. एन. व्यास एडवोकेट १०

✽ ब्रह्मचर्य
डा० श्री बदरीनारायण पंचोली १४

✽ प्रेम और भक्ति
ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा २१

✽ योग - चिकित्सा
श्री गिरीशदेव वर्मा २८

✽ एकतत्वाभ्यास
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा ३१

✽ दाम्पत्य जीवन और योग
श्रीमती सरिता भारद्वाज ४२

✽ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् ४७

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य : १८ रुपया

सिद्ध योग

वर्ष १४
अङ्क ३

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थात् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

जून
१९८१

मृत्युपाशांश्छिनत्ति

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥

अर्थात्

जिनका बार-बार वर्णन किया गया है, वे परमदेव परमेश्वर ही समय पर अर्थात् स्थिति-काल में समस्त ब्रह्माण्डों की रक्षा करते हैं, तथा वे ही सम्पूर्ण जगत् के अधिपति और समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से छिपे हुए हैं। उन्हीं में वेदके रहस्य को समझने वाले महर्षिगण और समस्त देवता लोग भी ध्यानके द्वारा संलग्न रहते हैं। सब उन्हीं का स्मरण और चिन्तन करके उन्हीं में जुड़े रहते हैं। इस प्रकार उन परमदेव परमेश्वर को जानकर मनुष्य यमराज के समस्त पाशों को अर्थात् जन्म-मृत्यु के कारणभूत समस्त बन्धनों को काट डालता है। फिर वह कभी प्रकृति के बन्धन में नहीं आता, सदा के लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है।

हमारा विशेष लेख—

❋ वर्ण-भेद एवं योगाधिकार ❋

❋ योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्रायः यह देखने में आता है कि सर्व साधारण लोग अपने आपको ऊँचे से ऊँचे अधिकार में बढ़ा लेना चाहते हैं। बात ठीक भी है। प्राणी मात्र का मन प्रगतिशील है और सभी में प्रगतिशीलता होनी भी चाहिए। किन्तु हमारे शास्त्रीय संविधानमें इसके लिये 'अधिकार' का स्थान विशेष रूप से वर्णित है एवं इसका स्पष्टीकरण भी विशेषतया किया गया है। साथ ही साथ रामायण, महाभारन और स्मृतियों में स्पष्टतया खोल-खोल कर समझाया गया है कि अमुक प्रकार के गुण-शील स्वभाव वाला व्यक्ति अमुक-अमुक विद्या का अधिकारी है। हमें इस बात का विचार अपने मन में अवश्य रख लेना चाहिए कि हमारे आचार्यों ने 'अधिकार' शब्द का अर्थ कार्यारम्भण सामर्थ्य अर्थात् कार्य करने की योग्यता के रूप में ग्रहण किया है। कार्यारम्भण सामर्थ्य का ठीक-ठीक अर्थ यही है कि जैसे पहली श्रेणी में पढ़ने वाला छात्र यदि पहली श्रेणी से पाठ्यक्रम को विधि पूर्वक अध्ययन करता है, और उसमें योग्यता पाकर उत्तीर्ण हो जाता है तब वह दूसरी श्रेणी में प्रवेश कर पाने का अधिकारी बन जाता है। प्रथम कक्षा में उत्तमोत्तम ढङ्ग से उत्तीर्ण हो जाने के बाद भी—वह द्वितीय कक्षा का ही, अधिकारी बनता है न कि वह अपनी प्रथम कक्षा के उपरान्त बी.ए. एम.ए. अथवा आचार्य का अधिकारी बन जाता है। जो लोग अपने बच्चों का अधिकार भेदके अनुसार अध्ययन नहीं कराते हैं उनके बच्चे मूर्ख रह जाया करते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि इतनी ऊँची शिक्षा को अपने अन्दर समावेशित कर ही नहीं सकती थी। इसी प्रकार से यौगिक शिक्षा या अन्य सभी प्रकार की शिक्षाओं में अधिकार-भेद बहुत ही आवश्यक है। इसी सिद्धान्त को लेकर के योगाचार भगवान पतञ्जलि जी ने मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र आदि चित्त भूमियों का वर्णन किया है और यह श्री व्यास देव जी महाराज ने स्पष्टतया खोलकर चित्त की स्थितियों को समझा दिया है। व्यास भाष्य में भगवान व्यास देव ने लिखा है—

चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्

त्रिगुणम् , प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति, तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति, तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति, तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति, तत्परं प्रसङ्ख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः ।

अर्थात् चित्त प्रख्याप्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है। कभी-कभी चित्त जिस समय सतोगुण प्रधान रहता है और रजोगुण और तमोगुण गौण रहा करते हैं तब ऐसा चित्त ऐश्वर्य को प्यार करने वाला हुआ करता है। और वही चित्त जब तमोगुण प्रधान बनता है, एवं रजोगुण व सतोगुण उसमें गौण हो जाते हैं तब वह अधर्म, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को प्राप्त करने वाला हुआ करता है, एवं बदल जाने के बाद वही चित्त जब रजोगुण की मात्रा से घिरा रहता है तब मोहावरण क्षीण हो जाने के बाद धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला होता है, एवं जब इसमें ये रजोगुण की मात्रा भी खत्म जैसी हो जाती है तब धर्ममेघ समाधि का अधिकारी बन जाता है। यही ध्यान करने वाले योगियों का परम प्रसङ्ख्यान है। हमारा इन पंक्तियों के लिखने का अभिप्राय केवल मात्र एक है कि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील होने से चित्त जिस-जिस गुण की प्रधानता को ग्रहण करता है उसे ही अपने अधिकार भेद के अनुसार धर्म-ज्ञान वैराग्यादि प्राप्त किया करता है। जो चित्त सतोगुण प्रधान है वह धर्म ज्ञान वैराग्यादि को प्राप्त करेगा और जो चित्त तमोगुण प्रधान है वह अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य को प्राप्त करने वाला स्वभाव से बन जायेगा। इस ही प्रकार से वर्ण-भेद की भी बात है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता में अपने मुखारविन्द से स्वयं ये शब्द कहे हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं
गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां
विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥

अर्थात् चारों वर्णों को गुण विभाग से मैंने पैदा किया यद्यपि मैं अकर्त्ता हूँ और अव्यय हूँ फिर भी गुण कर्मों के विभागों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि को मैंने स्वयं बनाया है। मेरे विचार में हमारे पाठक जो हमारे लेख पढ़ते रहते हैं इस बात का विचार अवश्य होगा कि किसी भी मनुष्य का जन्म किसी एक कर्म के अनुसार नहीं हुआ करता है जब कोई व्यक्ति जन्म

लेने लगता है तब उसका एक मुख्य कर्म अग्रणी बनता है और उसके साथ के वैसे-वैसे बहुत से कर्म एक कर्माशय के सृजन का कारण बन जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी यज्ञ, दान, तप आदि के उत्कृष्ट कर्मको लेकर जन्म लेता है तो उस ही प्रकार के अनेकों कर्म उसके सहचारी बन जाया करते हैं—जैसे आजकल जिस पार्टी का मन्त्रिमण्डल बनता है उसी पार्टी से मन्त्रियों का चुनाव अपने अनुरूप—प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री करता है। विपरीत पार्टियों के व्यक्तियों को यथासम्भव नहीं लेता है। इसी प्रकार से एक मुख्य कर्म अपने जैसे अनेकों सहचारी कर्मों को लेकर एक कर्माशय का निर्माण करता है और कर्माशयके अंदर जिस प्रकार का कर्म समूह एकत्र हुआ उसके अनुसार ही सहजा प्रकृति बना करती है। सहजा प्रकृति उसी सहज स्वभाव का नाम है जो मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त कायम रहा करता है। यह बात सर्वसाधारण में प्रचारित है कि जब कोई किसी व्यक्तिसे कोई काम कराना चाहता है तब कहता है कि क्यों जी मैं अमुक व्यक्ति से अपना अमुक कार्य कराना चाहता हूँ वह कैसे स्वभाव का है क्या वह मेरा काम कर देगा ? उस व्यक्ति के स्वभाव को जानने वाले लोग यह कहा करते हैं कि वह तो जन्म का ही महात्मा है वह तुम्हारा काम अवश्य कर देगा वह किसी के कार्य को मना नहीं करता और यदि वह व्यक्ति क्रूरकर्मा (तमोप्रधान) है तो उसे जानने वाले लोग यह कहा करते हैं कि अजी वह व्यक्ति तो जन्म से ही क्रूरकर्मा है वह तुम्हारा काम कैसे कर देगा ? इसी का नाम सहजा प्रकृति है। जिसको साधारण भाषा में जन्मजात स्वभाव कहा करते हैं। यह स्वभाव अच्छे या बुरे कर्माशय के साथ मनुष्य के साथ पैदा हुआ करता है और जीवन-पर्यन्त साथ रहकर उसके साथ ही समाप्त हुआ करता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण का भी आधार है। भगवान ने अपने मुखारविन्द से—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।' यह शब्द कहकर के वर्ण-मीमांसा को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् वर्ण व्यवस्था भी एक ईश्वरीय देन है। मनुष्य के अपने अधिकार की वस्तु नहीं है। जैसे-जैसे कर्म-समुच्चय को लेकर कर्माशय बनता है भगवत्कृपा से वैसे ही वैसे वर्ण में उस प्राणी का जन्म हुआ करता है। संसार में बहुधा लोग कहते हैं कि मनुष्य-मात्र की जाति एक है यह बात मनुष्यत्वेन बिलकुल ठीक है। किन्तु जिस प्रकार वृक्षत्वेन वृक्षों की जाति एक है किन्तु आम, नीम, कदम आदि का भेद रहता ही है। और यदि आम का बीज बोया जाता है तो वृक्षत्वेन वृक्ष तो बनेगा ही ऐसा नहीं होगा कि वह शेर, चीता बन जायेगा। लेकिन वह

आम का ही वृक्ष बनेगा नीम या बबूल का नहीं। इस ही प्रकार से मनुष्यत्वेन जाति एक होने पर भी वर्ण-भेद स्वाभाविक है और यह जन्मजात वस्तु है। ईश्वर की कृपापूर्वक ही मनुष्य ब्राह्मण वर्ण में पैदा होने लायक ब्राह्मणों में क्षत्रिय वर्ण में पैदा होने लायक क्षत्रिय में, वैश्य में पैदा होने लायक वैश्य में और शूद्र में पैदा होने लायक शूद्र वर्ण में ही पैदा होते हैं और जैसा-जैसा उनका बीज प्रधान होता है आगे भी उनकी सन्तान वैसी ही बनती जाती है। यह तो हो सकता है कि आम का वृक्ष पैदा हो जाने के बाद उसकी ठीक ढङ्ग से सुरक्षा न की जाय, ठीक समय पर उसका खाद पानी आदि से सिंचाव न किया जाय तो वह कमजोर हो जाये सूख जाये, या फल में अन्य विकृति आदि आ जावे। परन्तु बीज बदलेगा नहीं। इसी सिद्धान्त के आधार पर भगवान ने इस बात को स्वीकार किया है कि—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।" अर्थात चारों वर्णों को गुण-कर्म विभाग के अनुसार मैंने पैदा किया। गुण-कर्मों के विभाग के अनुसार ईश्वर प्रदत्त स्वभाव आदि मनुष्य का आजीवन साथ दिया करता है। इसी नियम को सामने रखते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवत् गीता के अठारहवें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के गुण-कर्मों का जन्मजात से पैदा होने वाले कहकर विभाजन किया है तथा बाद में यह निर्णय भी दे दिया है कि अपने-अपने कर्म-स्वभाव के अनुसार ही संलग्न होकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। वह प्रकरण इस प्रकार है—पढ़िये श्रीमद्भगवत् गीता अध्याय अट्ठारह और श्लोक ४१ से ४५ तक—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां
शूद्राणां च परंतप।
कर्माणिप्रविभक्तानि
स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं
क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं
ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं
युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं
कर्म स्वभावजम्॥
कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं
वैश्यकर्मस्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म
शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः
संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं
यथा विन्दति तच्छृणु॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि के कर्म स्वभाव से पैदा होने वाले गुणों से बंटे हुए हैं। उनमें से शान्ति को धारण करना, इन्द्रियों पर दमन करना, तप और शुद्धि करना, मन में शान्ति और नम्रता रखना, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिकता ये सभी कर्म ब्राह्मणों के अन्दर स्वाभाविक हैं। और शूर-वीरता, तेज, धैर्य और चतुरता तथा युद्ध में निर्भयता, दान करना और अनुशासन भाव का होना क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण है। कृषि कर्म, गौ सेवा, व्यापार ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म है। भगवान आज्ञा देते हैं—

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत:

सिद्धि लभते नर:।

अपने अपने स्वभावानुसार कर्म में निरत रहने पर ही मनुष्य सफलता को प्राप्त किया करता है। हमारे भारतीय इतिहास में बहुत सी कथायें मिलती हैं जो मनुष्य के जन्म-जात स्वभाव की पूरी-पूरी पुष्टि करती है। जैसे आजकल के जमाने में बादशाह बाबर और महाराणा सांगा के बारेमें जनश्रुति प्रसिद्ध है कि बादशाह बाबर ने किसी से सुना कि क्षत्रियों के शव भी लड़ाई कर सकते हैं। उसने जाकर महाराणा सांगा से कहा कि महाराणा हमने यह सुना है कि "क्षत्रियों के शव लड़ते हैं।" क्या यह बात सत्य है ? महाराणा ने बाबर को उत्तर दिया कि हां यह बात बिल्कुल सत्य है। बादशाह बाबर ने यह कहा कि मैं आज यह देखना चाहता हूं कि क्षत्रियों के शव कैसे लड़ते हैं ? महाराणा सांगा ने जवाब दिया हां, हां शौक से देखिये। हम क्षत्रिय हैं इस बात को अवश्य दिखलायेंगे। इतना कहकर महाराणा सांगा ने विचार किया कि मैं किस नौजवान के सिर को काट दूं जिससे कि बादशाह को यह विश्वास हो जावे—यथार्थ में बात यही है कि क्षत्रियों के शव लड़ा करते हैं। बहुत देर तक सोच-विचार कर महाराणा ने यही निश्चय किया कि मैं किसी और के बच्चे को क्यों मारूं ? मैं अपने ही बच्चे का सिर क्यों न काट दूं जिससे बादशाह को यह ज्ञान हो जावे कि हां क्षत्रियों के शव लड़ा करते हैं। ऐसा निश्चय हो जाने के बाद महाराणा ने अपने बड़े लड़के का सिर काट दिया। किन्तु वह सिर कट जाने के बाद थोड़ी देर तलवार घुमाकर गिर गया। बादशाह पर वार नहीं कर सका। बादशाह हँस पड़े और बोले शव लड़ते हैं यह बात मिथ्या है। महाराणा को भी मनमें दुःख हुआ कि मेरी सन्तान इस प्रकार क्यों गिर गयी। वे रंग भवन में उठ गये और अपनी रानी की चोटी पकड़ कर कहा कि सत्य बता यह किसका बीज था ? यदि नहीं बताती है तो तेरी भी गर्दन मैं अभी उतारे देता हूं। रानी ने विनम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा कि महाराज

आप मेरी गर्दन उतार देना किन्तु मुझे अपनी बात कहलेने दो। महाराणा ने कहा कि अच्छा बताओ क्या बात है ? रानी ने उत्तर दिया कि यह बीज तो आपका ही था किन्तु इसने दूध मेरा नहीं पिया था बांदी का दूध पिया था। यह दूसरा छोटा लड़का जो है यह आपका ही बीज है और दूध भी मेरा पीया है। यह अवश्य ही बादशाह पर 'वार करेगा। निःसंकोच आप इसकी गर्दन काट दीजिये। महाराणाने अपने बच्चे से पूछा बेटा तुम तैयार हो, उसने कहा हां पिताजी मैं बिल्कुल तैयार हूं। महाराणने रंगभवनसे बाहरआकर बादशाह से कहा मेरा बड़ा लड़का गिरगया है उसमें कमी थी किन्तु मेरा यह छोटा लड़का आपसे लड़ाई करेगा। बात निश्चित हो जानेके बाद महाराणा सांगा ने अपने छोटे बच्चे की गर्दन को काट दिया। उस बच्चे ने गर्दन कट जाने के बाद भी बादशाह पर इतने वेग से प्रहार किया कि बादशाह बड़ी कठिनाई से अपने प्राणों की रक्षा कर सका, और उसने खुले मन से कह दिया कि आज मैंने भली प्रकार से देख लिया कि क्षत्रियों के शव कैसे लड़ते हैं ? ये गुण क्षत्रियों में ही स्वाभाविक हैं। किसी दूसरी जाति में यह बात हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार से महाभारत में एक कथा मिलती है जो जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव को प्रकट करती है। श्री परशुराम जी ब्राह्मणों को ही विद्या दिया करते थे एवं क्षत्रियों को नहीं। क्योंकि वह क्षत्रियों से विरोध मानते थे। कर्ण ने शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने आपको ब्राह्मण वेश में छुपा लिया, एवं श्री परशुराम जी से शिक्षा प्राप्त करने लगा। एक बार ऐसा एक अवसर आया, कि अकस्मात् श्री परशुराम जी कर्ण की जंघा पर सिर रखकर सोये हुए थे सहसा कर्ण की जंघा को एक कीड़े ने काट खाया और वह कीड़ा जंघा को काटते हुए आर-पार निकल गया किन्तु कर्ण पूरे साहस के साथ बैठा रहा उसने अपने पैर को हिलाया - डुलाया भी नहीं। गर्म-गर्म खून का स्पर्श होने से श्री परशुराम जी जगे और कर्ण से पूछा यह खून कहां से आया ? क्या बात हुई ? कर्ण ने उत्तर दिया। प्रभो आप सोये हुए थे कीड़े ने मेरी जंघा पर काट दिया है आपकी निद्रा में कोई व्यवधान न हो इस कारण से मैंने आपको नहीं जगाया अब स्वतः ही आप जग गये हैं। इतने बड़े कड़े साहस को देखकर श्री परशुराम जी ने कर्ण से कहा इतना साहस ब्राह्मणों में नहीं हो सकता है। सच बतला तू कौन है ? तू ब्राह्मण बिल्कुल नहीं। तूने कपट से मुझसे विद्या प्राप्त की है। कर्णने सत्य को स्वीकार किया और कह दिया कि हां महाराज मैंने आपसे कपट तो किया है। मैं ब्राह्मण नहीं हूं। मैं क्षत्रिय ही हूं। आपसे विद्या प्राप्त करने के लिए ही मैंने यह रूपक बनाया था। प्रभो ! मुझे क्षमा कर

दीजिये। परशुराम जी ने उसको क्षमा कर दिया। किन्तु साथ में यह दण्ड देकर क्षमा किया कि समय पर तू मेरी दी हुई विद्या को भूल जाया करेगा। अस्तु। इन दो उदाहरणों से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के जन्मजात गुण-कर्म आदि की सत्यता तो सिद्ध है ही। अब रही बात यह कि योग विद्या को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार का अधिकारी होना चाहिए? वैसे तो योग सार्वभौम विद्या है इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी सभी का प्रवेश हो सकता है और सभी इसको प्राप्त भी कर सकते हैं। किन्तु अधिकार भेद यहां भी अवश्य चलेगा ही चलेगा। जो व्यक्ति जिस गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार इसका अधिकारी हो सकता है वही इसको पा भी सकता है। सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही रह सकता है। पीतल तांबे आदि के पात्रों में रह ही नहीं सकता। योग विद्या के अधिकारी तो सभी लोग हैं किन्तु हठयोग का अधिकारी कौन है? राजयोग का अधिकारी कौन है? लययोग का अधिकारी कौन है? किसके अंदर जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव इतने ऊँचे हैं कि वह इस विद्या को प्राप्त करने के लिए अपने आपको न्यौछावर कर डालें? योग-विद्या का इतना बड़ा विस्तार है कि अपने अपने-अपने गुण-कर्मानुसार किसी की हठयोग में प्रवृत्ति हो सकती है, किसी की राजयोग में प्रवृत्ति हो सकती है, कोई लययोग का अधिकारी है एवं किसी का मन्त्रयोग के द्वारा ही उत्थान हो सकता है। जो लोग ब्रह्म-कर्म वाले जन्मजात स्वभाव वाले हैं जिनका उत्तम वर्णमें जन्म हुआ है वे लोग हठयोग, राजयोग तथा लययोग आदि के द्वारा अपने आपको बढ़ा सकते हैं। एवं जो लोग जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार उत्तम अधिकारी नहीं है वे गुरुदेव के कथनानुसार मन्त्रयोग में प्रवेश करके शनैः शनैः अभ्यास करके समाधि द्वार तक पहुँच सकते हैं। किन्तु उनको उच्च स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते कुछ समय लग जायेगा। ऐसी बात नहीं है कि वह योग में बढ़ नहीं सकते। यह तो स्वयं गुरुदेव समझेंगे कि कौन किस प्रकार से चलने का अधिकारी है। सर्व समर्थ गुरुदेव जन्मजात गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार जैसा जो अधिकारी है उसको उसके अनुसार शिक्षा देकर योगके चरम लक्ष्य को प्राप्त करा ही दिया करते है, यदि साधना करने वाला व्यक्ति गुणकर्म स्वभावानुसार बतलाये रास्ते पर उनकी आज्ञा को मानकर चलता चला जाये। अधिकार भेद पर हमने 'सिद्धयोग' के किसी अङ्क में एक लेख और दिया था और उसी लेख को इससे आगामी अङ्क में कौन अधिकारी किस प्रकार की योग-साधना में प्रवेश करके अपने आपको योगकी चरमावस्था तक ले जा सकता है। विशेष रूपेण स्पष्ट करेंगे। आशा है विज्ञ साधक इन भावों को पढ़कर अवश्य लाभ उठायेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।

अनन्त श्री विभूषितानां योगमूर्त्तीनां श्री श्री 'चन्द्रमोहन' इत्यक्षराण्यलङ्कृतानां

❀ कृते श्री द्वारिकाप्रसाद शर्मणः

वाक्यपुष्पोपहारम्

पुण्योदये न पुनरद्य पुनीत दर्शनं ,
करोमि साक्षात् प्रणतेन चेतसा ।
भावत्कमेव प्रथितं यश एव योगिन् ,
न मेऽस्ति मेधा तव गौरवं वदेत् ॥

क्वास्तीह वाङ् मे महनीयवर्चसाम् ,
गुणार्णवानां गणने गुणानाम् ।
अल्पीयसी स्यान्मतिरेव यस्य ,
स उत्सहेः किं वचसामधीश्वरे ?

यैरेव नित्यं तृषिता ममादृशाः ,
आप्यायिता वाङ्मधुरैर्वचोभिः ।
सन्तारिताश्चापि महत्तमोभिः ,
आस्ते कथं सः कथनीयतां मे ?

मौढ्यं स्वकीयं स्वयमेव पश्यन् ,
चेतो न मेऽद्यापि रराम रन्तुम् ।
पश्यामि यां यां भवदीय भां वै ,
तत्तत्तु जल्पेऽल्पमतिर्मदीया ॥

योगिन् , महामानव, तेजराशे ,
दयादानिश्रेष्ठिन् तपःपूत देहिन् ।
कुर्वन्तु तावत् महतीं कृपां तां ,
स्युर्मेऽगुण ये गुणतां त एव ॥ ❀ ❀

भगवत्प्राप्ति का सुगम साधन-
नाम स्मरण

❀ श्री जी० एन० व्यास एडवोकेट, इन्दौर

राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहु जो चाहसि उजियार॥
(दोहावली ६)

गोस्वामी परम रामभक्त श्री तुलसीदास जी ने इस दोहे में प्राणी मात्र के लिये परमात्मा के स्मरण को सुलभ एवं सुगम बनाने का एक अमोघ साधन बताया है—"मुखरूपी दरवाजे की जीभरूपी देहली पर रामनामरूपी मणिदीप रखना " इसके द्वारा लोक-परलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान सहज रूप से प्रकाशित हो उठता है।

ज्ञान से परमात्मा को जानना, पहचानना और उनसे एकता अर्थात् तादात्म्य प्राप्त करना अत्युत्तम है। ज्ञानी भक्त ईश्वर को अत्यन्त प्रिय भी है। परन्तु यह मार्ग अत्यन्त दुर्लभ है इसके साधन भी अपेक्षाकृत कठिन हैं। इसलिये ईश्वर के स्मरण को सहज सुलभ बनाना अपने आप में एक महान उपलब्धि है। साधन भजन की पूर्णता का एक विशिष्ट अंग है।

किसी भी समय उठते-बैठते सोते-जागते अथवा किसी भी स्थिति— सावधानी-असावधानी में भगवान के नाम का स्मरण करना अत्यन्त सरल साधन है। श्रुति में कहा है—

अपवित्रो पवित्रोवा
सर्वावस्था गतो पिवा।
यस्मरेत् पुंडरीकाक्षं
स बाह्याभ्यंतरशुचीः।

अपवित्र हो या पवित्र अवस्था में हो सब परिस्थितियों में भी भगवान का स्मरण करने से बाहर और भीतर की शुद्धि हो जाती है। नाम स्मरण यह निर्बलों, विकलों, अपढ़ अज्ञानियों मन्द बुद्धि वालों के लिए भी समस्त विकारों, दुःख रोग, भय, चिन्ता, शोक, पाप-अज्ञान से मुक्ति पाने के लिए सुखदायक संजीवन बूटी है। नाम के प्रभाव से समस्त विकार घुल घुलकर बहने लगते हैं। प्रभु का नाम सब प्रकार की शांति प्रदान करता है उसमें समस्त साधन सहज रूप से निहित हैं।

नाम राम को अंक है सब साधन है सून।
अंक गये कछु हाथ नहि अंक रहे दस गुन॥
(दोहावली १०)

यदि मन बुद्धि को एकाग्र करके श्रद्धापूर्वक भक्ति और प्रेम से साधक थोड़ा भी नाम स्मरण कर लेवे तो उसे शीघ्र ही सफलता मिल जाती है।

जिज्ञासु, अर्थार्थी, आर्त, ज्ञानी—सभी भक्तों को नामका ही आधार है। चारों युगमें नामका प्रभाव प्रकट है। सत्य युग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजा की प्रधानता रही है। कलियुग में तो केवल नाम का ही महत्व बतलाया है। परम संत तुलसीदास जी अपने मानस में कहते हैं—

नहि कलि करम न भगति विवेकू।
रामनाम अवलम्बन एकू॥
भाव कुभाव अनख आलस हू।
नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥
(मानस १/२६/४।१/२७/१)

साधक अथवा प्रेमी भक्त के लिये नाम ही एक मात्र आश्रय तथा परम श्रेयस्कर साधन है। गृहस्थाश्रम में रहकर भगवद् प्राप्ति करने वाले महाराष्ट्र के परम सन्तों में श्रेष्ठ सन्त तुकाराम महाराज अपनी अभंगवाणी में लिखते है—

वेद अन्त बोलिया, अर्थ तुकाचि शोधिला।
विठोबासी शरणजावे, निजनिष्ठा नाम गावे।

अर्थात् वेद ने अन्त वर्णन किया है किन्तु मैंने तो इतना ही अर्थ निकाला है कि, भगवान के शरण जाना और अपनी शक्ति वश्रद्धा के अनुसार नाम स्मरण करना ही पर्याप्त है।

ईश्वर को निर्गुण और सगुण दो रूपों में माना गया है। निर्गुण रूप ज्ञान से जाना जाता है और सगुण रूप भावना से। ज्ञान में बुद्धि प्रधान है और भगवान में भाव प्रधान है। निर्गुण और सगुण के बीच नाम ही साक्षी है। नाम से ही दोनों जाने जाते हैं। रूप नाम के अधीन है कारण कि, नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं होता। रूप के बिना देखे ही नाम का स्मरण करने से वह रूप भी हृदय में भासने लगता है, और भगवान में साधक की प्रीति बन जाती है। नाम साधना ध्यान एकाग्रता का सुन्दर, रुचिकर एवं निश्चित साधन है। इसमें मन एकाकी भाव को भूलकर भाव-भावना की भूमि में स्वच्छन्द विचरण करता हुआ एक विचित्र आनन्द का अनुभव करने लगता है। उस अनोखे आनन्द में आत्मा तल्लीन हो जाता है और समस्त बाहरी बन्धनों से उपरामता (मुक्ति) हो जाती है। ध्यान ध्यानी और ध्येय एकाकार हो जाते हैं, चर-अचर सभी संसार के विषय वस्तुओं में परमात्मा की अनुपम कला का शुभ दर्शन हो जाता है। और साधक की स्थिति ऐसी हो जाती है जैसा भगवद् गीतामें कहा है कि—

यो मां पश्यति सर्वत्र
सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि
स च मे न प्रणश्यति ॥
(गीता ६/३०)

किन्तु साधक की ऐसी स्थिति दीर्घकाल के अभ्यास से ही प्राप्त होती है। श्रीमद्भगवद्गीता जी में भगवान श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते
ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति
स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७/१९)

इसी कारण योग साधना के लिए महर्षि पतञ्जलिजी ने भी अभ्यास की अवधि अत्यन्त दीर्घ बतलाई है। वे कहते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(योगद० समाधिपाद १४)

उपर्युक्त प्रकार की स्थिति प्राप्त होने पर साधक माया यानी प्रकृति से सर्वथा अलग होकर अपने निजस्वरूप में स्थित हो जाता है, जैसा कि महर्षि योगेश्वर पतञ्जलिजी अपने योगदर्शन के समाधिपाद श्लोक ३ में कहते हैं—

तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् ।

नाम विभिन्न स्तरों को पार करके राग-अनुराग, प्रणय-स्नेह, एकभाव-महाभाव और अन्त में नामी से अर्थात् परमात्मा से मिला देता है। अभ्यास पूर्ण होने पर इतनी तन्मयता हो जाती है कि, आत्मा का आभास भी नहीं रह जाता है—

भगति भजन हरि नाव है, दूजा दुःख अपार।
मनसा वाचा कर्मणा, कबीर सुमीरण सार ।
मेरामन सुमिरै रामको, मेरामन रामहि आहि।
अब मन रामहि कहै रह्या सीस नवावौंकाहि॥
(कबीर ग्रन्थावली सुमिरण को अंग ४)

सब रंग तंत रबाब तन विरह बजावै मित्त।
और न कोई सुणि सकै, कैसाई के चित्त ॥
(क० ग्रं० विरहकौ अंग २०)

नामस्मरण प्रियतम (परमात्मा) की प्रेमानुभूति का सुगम मार्ग है। जीव का मूल उद्देश्य ही अपने मूल स्वरूप परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाना यानी समरस हो जाना है। सम्भवतः बहुत कम लोग यह बात जानते होंगे कि तितली अपनी सृष्टि अन्य जीवों की की तरह नहीं चलाती। दो दीवारों के एकांत के कौने में वह एक छोटा सा घरोंदा बनाती है। उसमें प्रवेश के लिए एक गोल सुराख रहता है। वह एक झींगुर को पकड़ती है और अपने पैरों से उसे उठाये-उठाये जहां-जहां वह

जाती है, बराबर लिये रहती है और मिलाप के लिए घरोंदे में भी वह उसे अपने साथ रखती है। उसके कानों में निरन्तर अपनी आवाज करती रहती है तितली का रंग काला होता है, झींगुर को अपने समान बना लेती है और फिर उसे स्वतन्त्र विचरने के लिए छोड़ देती है। इस तुच्छ प्राणी की लगन कितनी प्रेरणास्पद है। मनुष्य तो समस्त चैतन्य प्राणियों में सर्वोत्तम है। उसमें तो साधन की तीव्रता, प्रेम की सच्ची लगन, हृदय की टीस, तल्लीनता, उन्माद तथा विह्वलता होनी ही चाहिए। नाम जप के दो रूप होते हैं—एक शब्द सहित उच्चारण करना, दूसरा मौन जप। दोनों में ही अनन्त शक्ति है। दोनों से ही बहुत लाभ होता है। जिस तरह वायु-मंडल में ध्वनि-तरंगें व्याप्त रहती हैं, उसी तरह मानसिक भाव तरंगें भी रहती हैं। ये एक दूसरे से टकराती हैं और अपना प्रभाव समस्त जीवों और प्राणियों पर डालती है। इसका एक छोटा सा उदाहरण निम्नांकित है—

एक महात्मा गद्गद् चित्त से त्रिमुक्त होकर हरिनाम का अत्यन्त प्रभावशाली ढंगसे उच्चारण करते थे। वह क्रमशः चार दुष्ट व्यक्तियों के, जो प्रतिदिन उनके पास अपने कार्यों की सिद्धि के लिए आशीर्वाद लेने आते थे, कानों से छन-छनकर उनके हृदय तक पहुँचता था और उन दुष्टों में विचित्र उथल-पुथल पैदा करता था। एक दुष्ट दूसरे व्यक्ति को मारना चाहता था, दूसरा किसी के धन को चुराकर भागना चाहता था, तीसरा एक स्त्री का सतीत्व हरण करना चाहता था और चौथा, अपने दुष्कर्मों से उकता कर आत्म-हत्या करना चाहता था। उक्त दिव्य महात्मा जी के चमत्कृत ढङ्ग से नाम लेने के प्रभाव ने उन चारों दुष्ट व्यक्तियों का हृदय परिवर्तित कर दिया। वे अपने-अपने दुष्कृत्यों को छोड़ परमात्मा के भजन में लग गये।

मौन जप का प्रभाव भी अत्यन्त रहस्यमय है। उसकी तरंग भीतर ही भीतर अणु-अणु में व्याप्त होकर उसे दिव्य बना देती है और आत्मा को प्रकाशमान करती है। उस प्रकाश की आध्यात्मिक रश्मियों से विषाद, अन्धकार और निर्बलता के समस्त विकार छिन्न-भिन्न होकर समूल नष्ट हो जाते हैं। स्थिर बुद्धि की आभा मुख-मण्डल पर स्पष्ट झलकने लगती है। साधक के अङ्ग-अङ्ग में एक विलक्षण स्फूर्ति तथा शक्ति का प्रस्फुरण हो जाता है। भगवन्नाम साधना तथा भगवन्नाम के स्मरण जप से प्राणिमात्र में अलौकिक दिव्य प्रकाश का प्राकट्य हो जाता है। भगवन्नाम की कृपा से जो साधक अपने हृदय में सच्चिदानन्द का अटूट दिव्य अनुभव करता है वह भगवान के नाम, जप और लीला के अनुपम रस का सहज आस्वादन प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्य

डॉ० श्री बदरीनारायण पंचोली, प्रवाचक (दर्शन)
श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-१६

ब्रह्मचर्य की आज के जन-जीवन में कितनी परमावश्यकता है और उसकी क्या महत्ता है, इसका विचार करने से पूर्व ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है। यह तो सर्वविदित है ही कि पातञ्जलि योगदर्शन में बतलाते हुए यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार. धारणा, ध्यान, समाधि इन आठ अङ्गों में से प्रथम अङ्ग यम के पांच स्वरूप हैं, अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। इनमें से चतुर्थ ब्रह्मचर्य है। इस विषय में सूत्र है —

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

(योगद० द्वितीय पाद सूत्र ३०)

इसका स्पष्टीकरण करते हुए व्यास जी ने लिखा है कि—

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र तत्त्ववैशारदी में लिखते हैं कि "ब्रह्मचर्य स्वरूपमाह गुप्तेति। संयतोपस्थोऽपि हि स्त्रीप्रेक्षणतदालापकन्दर्पितत्तदङ्गस्पर्शनसक्तो न ब्रह्मचर्यवानिति तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति। इन्द्रियान्तराण्यपि तत्र लोलुपानि रक्षणीयानीति।" भाव यह है कि व्यास जी ने ब्रह्मचर्य का स्वरूप बतलाया है कि गुप्त रखी जाने वाली जननेन्द्रिय का पूर्णतः नियमन करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। किन्तु केवल जननेन्द्रिय को वशीभूत कर लेने पर भी सुनिश्चित रूपसे यदि कोई व्यक्ति राग पूर्वक किसी को देखता है, उस स्त्री से वासना वासितान्तःकरण हो वार्तालाप करता है, तथा कामोत्तेजक स्त्री के स्तनादि अङ्गों का स्पर्श करने में आसक्त हो जाता है, तो वह कथञ्चिदपि ब्रह्मचारी नहीं कहला सकता है। कहीं कोई ऐसे व्यक्ति को भी कोई ब्रह्मचारी नहीं समझ बैठें इसीलिए व्यास जी ने अपने भाष्य में गुप्तेन्द्रिय शब्द का प्रयोग किया है। आशय यह है कि काम-वासना को जागृत करने वाली अन्य इन्द्रियों को भी सर्वथा बचाना चाहिए केवल जननेन्द्रिय मात्र को संयत कर लेने मात्र से ब्रह्मचारी नहीं बन सकते।

इसी तरह इसी ब्रह्मचर्य के स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाले व्यास भाष्य का सुस्पष्टीकरण करते हुए आचार्य श्री विज्ञान भिक्षु अपने योगवार्तिक में लिखते हैं कि—

ब्रह्मचर्य्यं लक्षयति गुप्तेति। गुप्तेन्द्रियस्येति स्वोक्तस्य विवरणमुपस्थस्येति। संयम इत्यत्रोपसर्गणान्येन्द्रियसाहित्यमुस्थस्य ग्राह्यम्। तेनोपस्थस्य विषये सर्वेन्द्रियव्यापारोपरम इति लक्षणम्। तथा चोक्तं दक्षसंहितायाम्—

ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्ट-
धालक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः
प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च
क्रियानिवृ`त्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गम्प्र-
वदन्ति मनीषिणः॥इति
प्रकृष्टमीक्षणं प्रेक्षणं
रागपूर्वकं दर्शनमित्यर्थः।

जिसका भावार्थ यह है कि व्यासजी अपने भाष्य में ब्रह्मचर्य का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि गुप्तेन्द्रिय अर्थात् उपस्थ जननेन्द्रिय का सर्वथा संयम करना चाहिए। यहां ब्रह्मचर्य पालन करने वाले व्यक्ति को अन्य सभी इन्द्रियों पर भी उपस्थेन्द्रिय की तरह से ही सर्वथा संयम रखना चाहिए। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए यहां संयम शब्द का प्रयोग किया गया है। साथ ही यह भी सुस्पष्ट है कि जननेन्द्रिय के विषय में सम्पूर्ण इन्द्रियों के क्रिया-कलापों का समाप्त हो जाना ही ब्रह्मचर्य पालन होता है। इसी तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए दक्ष संहिता में लिखा है कि— "ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेद्" इत्यादि। जिसका भाव यह है कि ब्रह्मचर्य की हर हालत में रक्षा करनी चाहिए, वह ब्रह्मचर्य आठ प्रकार से खण्डित होता है। १. किसी भी प्रेयसी या प्रिय पुरुष को वासनामय अन्तःकरण से स्मरण करने मात्र से भी ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाता है। २. इसी तरह स्वेष्ट स्त्री का वासना वासितान्तःकरण हो वर्णन करे या कोई स्वेष्ट पुरुष का काम-वासना वासितान्तःकरणपूर्वक वर्णन करती है तो यह स्थिति भी ब्रह्मचर्य को खण्डित करने वाली होती है अतः हर ब्रह्मचर्य पालन कर्त्ता स्त्री, पुरुष को इससे बचना चाहिए तभी वह सच्चा ब्रह्मचारी या सच्ची ब्रह्मचारिणी मानी जा सकती है। ३. तीसरा ब्रह्मचर्य घातक स्वरूप प्रकट करते हुए केलि शब्द का प्रयोग किया है जिसका प्रयोग कई स्थलों पर स्त्री-पुरुष संग के अर्थ में भी मिलता है किन्तु यहां आचार्य ने तदर्थ क्रिया-निवृत्ति शब्द का प्रयोग अलग किया है

इसलिए स्पष्ट है कि यहां केलि शब्द से उन्हें केवल विभिन्न प्रकार से काम-वासना वासितान्तःकरण स्त्री पुरुष की जल - केलि प्रभृति जो क्रीडायें होती है वे क्रीडायें ही अभिप्रेत हैं।

४. चौथा ब्रह्मचर्य विघातक है प्रेक्षण। इस प्रेक्षण शब्द को स्पष्ट करते हुए आचार्य विज्ञान भिक्षु लिखते हैं कि—'प्रकृष्ट मीक्षणं प्रेक्षणं रागपूर्वकं दर्शनामित्यर्थः।' अर्थात् अनुरक्तिपूर्वक सतृष्ण दृष्टि से स्त्री पुरुषों का परस्पर एक दूसरे को देखना भी ब्रह्मचर्य को खण्डित कर देता है। इसलिए इससे भी पूर्णतः सुरक्षित रहना ब्रह्मचर्य पालन के लिए नितान्त आवश्यक है।

५. पांचवां ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाला है गुह्य भाषण अर्थात् एकान्त में बैठकर काम-वासना विषयक चर्चा करना अथवा गुह्याङ्गों के विषय में वासनापूर्वक वार्तालाप करना भी ब्रह्मचर्य व्रत पालन में स्खलन पैदा कर देता है अतः इससे भी बचाव परमावश्यक है।

६. ब्रह्मचर्य व्रत को दूषित करने वाला छठा है सङ्कल्प। वैसे सङ्कल्प शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर दृढ़ निश्चय के लिए भी होता है। किन्तु यहां तो "सङ्कल्पकमिन्द्रियमनः" के अनुसार मन में किसी स्त्री या पुरुष के विषय में ब्रह्मचर्य खण्डन करने का विचार कर लेना ही अर्थ सङ्गत लगता है। क्योंकि दृढ़ निश्चय के लिए सातवां अध्यवसाय अलग से प्रतिपादित है। इससे स्पष्ट है कि किसी के लिए मन में वासनामय विचार बना लेना भी ब्रह्मचर्य व्रत दूषक हो जाता है। अतः हमेशा अपनी मानसिक शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखना जरूरी है। तभी ब्रह्मचारी कहला सकते हैं।

७. सातवां ब्रह्मचर्य खण्डन करने वाला है अध्यवसाय। "अध्यवसायो बुद्धिः।" इस सूत्र के द्वारा महर्षि कपिल ने सांख्य सूत्र में बुद्धि का लक्षण दिया है किन्तु यहां ब्रह्मचर्य खण्डित होने के प्रसङ्गवश अध्यवसाय का अर्थ काम वासनावश किसी से सहवास करने का निश्चय कर लेना ही माना गया है। चाहे फिर सहवास कर सके या नहीं, तथापि उसका ब्रह्मचर्य तो खण्डित हो ही जाता है।

८. आठवां और अन्तिम ब्रह्मचर्य विघातक तथ्य है क्रिया-निवृत्ति, जो सहवासात्मक सुस्पष्ट है ही। जिसे सामान्यतः एक मात्र ब्रह्मचर्य खण्डित करने वाली सभी लोग स्वीकार करते ही हैं। इसके अलावा उपर्युक्त सात तथ्यों को केवल सूक्ष्म विचारक ही जानते हैं। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि इनका प्रचार-प्रसार होना भी परमावश्यक है। क्योंकि आज समाज में और शिक्षण-संस्थाओं में भी इन पर ध्यान नहीं देने से ही अनेक समस्यायें समुपस्थित हो जाती है

जिनका निराकरण कर सकना दुष्कर होता है और नैक विध रोग भी इसी वजह से युवक युवतियों को समाक्रान्त कर लेते हैं जिनके निदान एवं चिकित्सा में कष्ट होता है इसलिये मेरी तो सभी से अपील है कि इस अष्टविध मैथुन से सभी को स्वात्म रक्षापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने स्वास्थ्य की सुरक्षा करनी चाहिए। परन्तु इतना अवश्य है कि इनसे गृहस्थ बन्धुओं के लिए सर्वथा बचपाना कठिन ही नहीं गृहस्थ जीवन में असम्भव ही है। अतएव इस विषय को स्पष्ट करते हुए मनु ने लिखा है कि—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु
स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र
तत्राश्रमे वसन् ॥

जिसका भाव यह है कि ऋतुकाल में वर्जित छह रात्रियों में तथा शेष दश में से आठ रात्रियों में स्त्री संग से दूर रहने वाला अर्थात् एक महीने में सोलह रात्रियों के ऋतुकाल में से पर्वादि रहित केवल दो रात्रियों में ही स्त्री-संग करने वाला व्यक्ति चाहे किसी भी आश्रम में क्यों न हो ब्रह्मचारी ही कहलाता है। वर्जित रात्रियों का स्पष्टीकरण करते हुए मनु लिखते हैं कि—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्
स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां
तद् व्रतो रतिकाम्यया ॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां
रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धम-
होभिः सद्विगर्हितैः ॥
तासामाद्यश्चतस्रस्तु
निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु
प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
(मनुस्मृति ३/४५-४७)

कोई बीमारी न हो तो हर स्त्री को स्वाभाविक रूप से रजोदर्शन हर माह होता है। जिस रोज रजोदर्शन होता है उसी दिन से लगातार सोलह दिन तक का समय ऋतुकाल कहलाता है। इन रात्रियों में से प्रथम चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं एवं तेरहवीं रात्रियाँ निषिद्ध हैं। शेष दश रात्रियाँ शुभ मानी जाती हैं। इन दश रात्रियों में से भी एकादशी तिथि वाली, अमावस्या, पूर्णिमा तिथियों वाली, सूर्य चन्द्रग्रहण, व्यतिपात, संक्रान्ति (सूर्य एक राशि से दूसरी राशि पर जाता है उस दिन की रात्रि) जन्माष्टमी, शिवरात्रि, रामनवमी इत्यादि दिन पर्व कहलाते हैं। इसलिये ऐसे पर्व दिन का परित्याग करके शेष किन्हीं दो रात्रियों में ही केवल पुत्र या पुत्री के उत्पन्न होने हेतु ही सहवास करना भी ब्रह्मचर्य के ही

समान होता है। इसी विषय में प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि—

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये देवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते। अन्नं वै प्रजापतिः ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।

(प्रश्नोपनिषद् प्रथम प्रश्न मन्त्र १४)

इस मन्त्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि दिन और रात्रि का युग्म ही प्रजापति है और उसका दिन ही प्राण है, और रात्रि रयि है। जो कोई कामी पुरुष दिन में ही पशु प्रवृत्ति की तरह स्त्री-संग कर लेता है तो वह उसके स्वयं के लिए बहुत घातक है। एक तरह से वह स्वयं अपनी ही आहुति कर देता है, और जो गृहस्थ शास्त्र विहित विधि से पर्वों एवं निषिद्ध सम्पूर्ण रात्रियों का परिहार करके केवल सन्तानोत्पत्ति की भावना से ही सहवास करने वाला होता है वह तो स्त्री-संग करने पर भी ब्रह्मचारी ही होता है। अर्थात् गृहस्थ यदि इस तरह सर्वथा शास्त्र विहित विधि से सन्तानोत्पत्ति मात्र को लक्ष्य रखकर सहवास करे तो उत्तम हो और यह सर्वथा सुनिश्चित तथ्य है कि इस तरह यावच्छक्य सभी व्यक्ति अपनी-अपनी स्थितियों के अनुसार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करने लगें तो नैकविध अनाचारों एवं हजारों पारस्परिक द्वन्द्वों से मुक्त हो स्वयं सर्वथा सुखपूर्वक रह सकता है तथा अपने निखिल सांसारिक बन्धुओं को भी सानन्द रह सकने का शुभावसर प्रदान कर सानन्दित कर सकता है।

महर्षि पतञ्जलि स्वयं ब्रह्मचर्य की महत्ता प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

अर्थात् ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर वीर्यलाभ होता है। व्यास भाष्य में इसी सूत्र को स्पष्ट करते हुए व्यासजी लिखते हैं कि—

यस्य लाभादप्रतिघान् गुणान् उत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।

कहने का भाव यह है कि यहां वीर्य-लाभ से केवल शुक्र सुरक्षा के कारण होने वाली शक्ति मात्र का लाभ ही नहीं है अपितु ब्रह्मचर्य की सुस्थिरता के प्रभाव से जो अद्भुत अलौकिक शक्ति-लाभ होता है, उससे वह साधक कभी कहीं किसी भी प्रकार से प्रतिघातित नहीं हो सकने वाले गुणों की समभिवृद्धि को प्राप्त कर लेता है, तथा सही-सही तत्त्वज्ञान का संचार अपने शिष्यों में कर सकने में सर्वथा समर्थ हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र अपनी 'तत्त्ववैशारदी' में लिखते हैं कि—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः वीर्यं सामर्थ्यं यस्य लाभाद् अप्रतिघान् अणिमादीन् उत्कर्षयत्युपचिनोति सिद्धश्च तारादिभिरष्टाभिः सिद्धिभिरुहाद्यपरनामभिरुपेता विनेयेषु शिष्येषु ज्ञानं योगतदङ्गविषयमाधातुं समर्थो भवतीति ।

यहां श्री मिश्र जी ने स्पष्ट किया है कि– १. अणिमा, २. महिमा, ३. गरिमा, ४. लघिमा, ५. प्राप्ति, ६. प्राकाम्य, ७. ईशित्व ८. वशित्व इन आठों ऐश्वर्यों को ब्रह्मचर्य का सर्वांशतः पालन करने वाला प्राप्त कर लेता है तथा उन्हें समभिवृद्ध भी कर लेता है। और उसे स्वतः १. ऊह, २. शब्द, ३. अध्ययन ४. आध्यात्मिक, दुःखविघात ५. आधिदैविक दुःखविघात, और आधिभौतिक दुःखविघात अच्छे तत्वज्ञानोपदेष्टा मित्र की समुपलब्धि हो या ऐसे तत्वज्ञानी की प्राप्ति हो जाती है जिसे द्रव्य प्रदान कर उसके बदले में उससे तत्त्वज्ञान स्वरूप सिद्धि को प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार वीर्य लाभ सम्पन्न ब्रह्मचारी अपने शिष्य वर्ग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग समाहित कर सकने में सर्वथा समर्थ हो जाता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि यदि कोई सर्वांशतः ब्रह्मचर्य का पालन लगातार करता रहता है और उसे सहज स्वाभाविक बना लेता है तो उसे तत्वज्ञान भी अपने आप प्रस्फुटित हो जाता है या किसी अन्य को तत्त्वज्ञान का उपदेश कोई कर रहा है तो उसे सुनने मात्र से ही उसे तत्त्वज्ञान हो जाता है। किसी तत्त्वज्ञानी के चरणों में जाकर तत्त्वजिज्ञासा करे तो उससे अध्ययन करते ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। तीनों प्रकार के दुःखों के आतंक से सर्वथा मुक्त हो, वह ऐसा वातावरण स्वयमेव प्राप्त कर लेता है कि उसे तत्त्वज्ञान हो जाता है और इस तरह केवल ब्रह्मचर्य के सर्वथा पालन करने मात्र से भी कैवल्य का अधिकारी बन जाता है।

आचार्य श्री विज्ञान भिक्षु भी 'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः" के व्यास भाष्य को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि—

वीर्यं शक्तिविशेषं लक्षयति-यस्येति । यस्य वीर्यस्य लाभात् प्रतीघातवर्जितान् गुणान् ज्ञानक्रियाशक्तीरुत्कर्षयति योगी वर्धयति तथा सिद्धः स्वयं ज्ञानी भूत्वा शिष्येषु ज्ञानाधानसमर्थश्च भवतीत्यर्थः ।

भाव यह है कि वीर्य शब्द द्वारा यहां योगी में उत्पन्न होने वाली एक विशिष्ट शक्ति की ओर संकेत किया गया है। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर किसी भी परिस्थिति में

किसी के भी माध्यम में जिन गुणों को दबाया या कुचला नहीं जा सकता हो ऐसे विशिष्ट गुणों की समभिवृद्धि समधिगत कर योगी अपनी ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति दोनों को सर्वथा समुत्कृष्ट रूप से बढ़ा लेता है। इस तरह स्वयं सिद्ध तत्त्वज्ञानी होकर अपने शिष्यों में तत्त्वज्ञान का सञ्चार कर सकने में भी सर्वथा समर्थ हो जाता है। योगसार-संग्रह में भी आचार्य विज्ञान भिक्षु लिखते हैं कि—

कर्मणा मनसा वाचा
सर्वभूतेषु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागं
ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् कर्म के द्वारा मन से व वाणी से प्राणी मात्र में हमेशा हर जगह हर तरह से मैथुन का परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है। भाव यह है कि अष्टविध मैथुन का सर्वथा परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। इस तरह के ब्रह्मचर्य का पालन करने से स्वयं तत्त्वज्ञान सम्पन्न होकर जिन-जिन लोगों को चाहे तत्त्वज्ञान देकर स्वयं मुक्त होने के साथ-साथ नेकविध कष्टों से सम्पन्न अनेक सांसारिक बन्धुओं को भी मोक्ष दिलवा सकता है।

❀ भोग और भोक्ता ❀

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

'प्रकृति के गुणों के द्वारा क्रियमाण सारे कर्मों का अहंकार से विमूढ़ आत्मा (पुरुष) अपने को कर्ता मानता है। परन्तु जब उसे शुद्ध सात्त्विक बुद्धि के द्वारा यह पूर्णतः अनुभव हो जाता है कि जीवन का सारा व्यापार प्रकृति द्वारा हो रहा है, तो वह प्रेक्षक के समान अवस्थित होकर 'स्वस्थ' हो जाता है। तब उसे भान होता है कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ' मैं शुद्ध-बुद्ध ज्ञानस्वरूप चेतन हूँ, मेरे चैतन्य के प्रकाश में प्रकृति लीला कर रही है। उधर जब प्रकृति पुरुष को ज्ञान-सम्पन्न देखती है और अपने से पूर्ण विरक्त देखती है तो वह लज्जावश होकर नृत्य समाप्त कर देती है। सांख्यदर्शन के मत से यही पुरुष का 'कैवल्य' है और यही 'परम पद' है।

परन्तु इस अवस्था को विरले ही भाग्यवान् पुरुष प्राप्त होते हैं। फिर तो आवागमन ही अधिकांश के मत्थे पड़ता है। मृत्यु के पश्चात् पुरुष के कृतकर्मों के संस्कार, जिनको 'भाव' कहते हैं, जो लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ अनुस्यूत होते हैं, पुरुष को साथ लेकर परलोक तथा जन्मान्तर में भोग प्रदान करते हैं।

卐 प्रेम और भक्ति 卐

❀ ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ देहगोत्रा

प्रेम क्या है ? सम्पूर्ण रूप से आकर्षित हो जाना और उस आकर्षण के फलस्वरूप अपने आपे को भूल जाना, यही प्रेम का स्पष्ट लक्षण है। प्रेम के सम्बन्ध में लोग बड़ी बड़ी बातें कहते हैं। कुछ कहते हैं कि प्रेम में देना ही देना है, पाने की तो बात ही नहीं। कुछ कहते हैं प्रेम में खोना ही खोना है, बस हारते जाना ही प्रेम है।

स्पष्ट है कि प्रेम के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणाएँ एकांगी और गलत हैं। प्रेम भगवान का स्वरूप होने के कारण उसमें देना जितना है, पाना उससे कोटि गुणा अधिक है। प्रेम से अधिक सार्थक तत्त्व और नीचे से ऊपर तक तृप्ति से सराबोर कर देने वाली दूसरी तो कोई भी वस्तु नहीं है। श्री भगवान का कथन है —

ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो मुझे जिस प्रकार से भजता है वैसे ही मैं उसे भजता हूँ।

भगवान की ओर एक कदम बढ़ने वाले व्यक्ति की ओर भगवान सहस्र कदमों से बढ़ता है क्योंकि भगवान का अपना प्रण है- वे उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं, जैसा हम उनसे करते हैं। हमारी शक्ति तो सीमित है, अतः हमें एक कदम बढ़ने के लिए भी घोर प्रयास करने होते हैं परन्तु वे सर्वशक्तिमान् हैं, वे एक कदम बढ़ आए तो हमारा निस्तार हो जाता है। अतः आवश्यकता तो सिर्फ हमारे एक कदम बढ़ाने की ही है। दूसरे कदम के पूर्व ही वह अपना बना लेते हैं।

वह एक कदम कैसा है ?

मां च योऽव्यभिचारेण
भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान्
ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

जो व्यक्ति अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मेरे को निरन्तर भजता है। वह गुणों को सर्वथा पार कर ब्रह्मभाव का वरण कर लेता है।

यह प्रेम अव्यभिचारयुक्त होना चाहिए। दूसरे किसी के चिन्तन का पूर्ण अभाव ही प्रेम

की वस्तु निष्ठा है। गोपियों से किसी ने कहा—"श्याम के लिए रोती क्यों हो ? वे मथुरा में ही तो हैं। दो घण्टे का मार्ग ही तो बीच में है ? चलो उन्हें देख आओ। गोपियों ने उत्तर दिया—हमें उन महाराजा कृष्ण से क्या वास्ता ? हमें तो अपना वही कृष्ण चाहिए जो हमारा अपना है। जो मोर का मुकुट और गुंजा की माला पहनता है। गौएँ चराता है। नाचता है, गाता है व सर्वतो-भाव से जो हमें रिझा ने वाला है हमारा कृष्ण वही है। हमारा कृष्ण तो हमारी निजी सम्पत्ति है। उस पर दूसरों का क्या अधिकार ? वह तो आज भी हमारे हृदय में है। मथुरा वाला कृष्ण तो विश्व की सम्पत्ति है। उसे हम अपना कैसे कह सकतीं हैं ?

कृष्ण हमारे हिय बसैं
मोर मुकुट छबिधाम ।
श्याम किसोर कृपालु प्रभु
दुखहर प्रद मनकाम ॥
रासबिहारी मनहरन
सर्वशक्ति को पुञ्ज ।
धारा को राधा किए
योगेश्वर छबिकुञ्ज ॥
गुञ्ज माल कर मुरलिका
ओष्ठ अरुण भुज सक्त ।
नाचत गात रिझात जन
गोपालक अनु भक्त ॥
पीत बसन, माखन असन,
गिरिधारक अनयास ।
विधि इन्द्रादिक मद हरन,
ब्रज रज किए बिलास ॥
हमरो कृष्ण हमार धन
संतत चित्र निवासु ।
का करिहैं मथुरेश हरि
लखि जिन विश्वनिवासु ॥

स्वयं श्रीकृष्ण से ही प्रेम करने वाली ये गोपियां उनके बाल गोप की ही अनन्य भाव से उपासना करती रहीं और यह जानकर भी कि वे ही विश्वम्भर और सर्वेश्वर हैं, उन्होंने अपनी एकाग्रता को भंग नहीं होने दिया।

यही कारण है कि साधक को अपनी एकाग्रता बनाए रहनी पड़ती है। उसे जो गुरु मन्त्र मिला है उस एक मन्त्र का जप ही उसके लिए अभीष्ट है। यही कारण है कि सद्गुरु जब भी अपने शिष्य को ध्यानादेश देते हैं तो उसकी रुचि और प्रवृत्ति को परख कर ही देते हैं। श्रीरामकृष्णपरमहंसदेव ने अपनी जीवन चर्या में चमत्कारों का प्रदर्शन तो कभी नहीं किया परन्तु उनका जीवन चरित्र हर कदम पर चमत्कार पूर्ण रहा। कोई काली का भक्त आया तो वे काली के गुणगान में मस्त हो गए। शिव उपासक के आते ही वे शिवस्वरूप हो उठते थे। कृष्ण

भक्तों के समक्ष वे साक्षात् चैतन्य बन जाते। विविध मार्ग के अधिकारियों को पहचान कर उन्हें तद्वत् ही साधना का आदेश देते थे। ऐसा नहीं कि सभी को 'अहं ब्रह्मास्मि' का उपदेश दे दिया। एक बार स्वामी विवेकानंद जब नरेन्द्र के रूप में ही अपनी साधना को विकसित कर रहे थे, उनका राखाल नाम के भक्त साधक से वादविवाद हुआ। नरेन्द्र की प्रखर वाक्शक्ति और योग्यता के समक्ष राखाल टिक नहीं सके और भक्तिमार्ग के पक्ष में योग्य उत्तर न दे पाने से ज्ञान की गरिमा मानने के लिए उनमें बाध्यता के विचार प्रविष्ट हो गए। परिणाम स्वरूप उनकी जो भक्ति साधना थी उसमें उन्हें कमी नजर आने लगी। ऐसी स्थिति में श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्र को झिड़का। उन्होंने नरेन्द्र को समझाया कि हर मार्ग सत्य है। हर व्यक्ति एक ही तरह से सोच समझ व बढ़ नहीं सकता। हर व्यक्ति न तो योगी हो सकता है न ज्ञानी। न ही हर व्यक्ति सर्वस्व समर्पित कर देने वाला भक्त ही बन सकता है। जिस व्यक्ति के अन्दर जैसे भाव समाविष्ट हैं वैसे भाव से ही उपासना के पथ पर बढ़ते चले जाना ही अभीष्ट है।

विवेकानन्दजी ने इस को हृदयंगम कर लिया और उसके बाद तो विवेकानन्द ने भी स्वयं ज्ञानमार्ग पर आरूढ़ होते हुए भी भक्ति, योग, कर्म और ज्ञान जैसा अधिकारी हो उसे वैसा ही उपदेश देने का क्रम रखा।

सिद्धयोग के मार्ग में यद्यपि साधक को एक ही प्रकार की प्रारम्भिक दीक्षा दी जाती है, फिर भी यह स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि जो योगेश्वर गुरु हैं वे प्रत्येक साधक के अन्तःकरण में स्थित होकर उसे उसके योग्य पथ पर बढ़ाने में प्रकाशस्तम्भ का काम करते हैं। सिद्धयोग दीक्षित व्यक्ति को Self Hypnosis—आत्म सम्मोहन का फल देता है और वह यह समझ कर कि हमें अब अन्तर्जगत् में प्रवेश का अधिकार मिल गया है, उस ओर प्रारम्भिक प्रवृत्ति पाता है जो बाद में उसकी अपनी मनोभावना के अनुरूप ही विकसित होती जाती है।

योग का उदय भावना से होता है। यही कारण है कि 'संयम' की स्थिति में—धारणा, ध्यान और समाधि में, 'भावना' का ही प्रमुख हाथ रहता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार तो भावना को संशुद्ध और ईश्वरोन्मुख बनाने के लिए ही है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार के प्रभावस्वरूप यदि भावना संशुद्ध और ईश्वरोन्मुख नहीं हुई तो भी योग प्रदत्त सिद्धियां तो साधक में प्रविष्ट हो जाती हैं परन्तु वह राक्षसी मार्ग पर प्रवृत्त हो जाता है। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद और अन्य बहुत से ऐसे राक्षस रहे हैं जो

योगशक्तियों से संयुक्त थे। और उनमें बहुत प्रकार की सिद्धियां थीं। इसका कारण यही था कि उनकी भावना ईश्वरोन्मुख न होकर भोगोन्मुखी थी। योग जनित शक्ति का प्रयोग भले व बुरे दोनों मार्गों पर हो सकता है। परन्तु योग शास्त्र का चरम लक्ष्य तो साधक को ऊर्ध्व मुखी बनाना ही है।

ऊर्ध्व मूलमधः शाखम-
श्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि
यस्तं वेद स वेदवित् ॥
—गीता

ऐसे वृक्ष को जानने की वह योगशास्त्र प्रेरणा देता है जिसका मूल ऊर्ध्वमें है, जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं, जो अव्यय अश्वत्थ जैसा है। यहां अश्वत्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं अश्वत्थ अर्थात् पीपल जैसा वह है। उस पीपल की शाखाएँ नीचे फैली हैं परन्तु उसकी जड़ ऊपर है। यह अश्वत्थ अव्यय है, उसका क्षय कभी नहीं होता। अश्व शब्द घोड़े का वाचक है। घोड़ा शक्ति के रूप में पहचाना जाता है। अमुक इन्जन अमुक अश्व-शक्ति का है, ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि शक्ति को अश्व के सन्दर्भ से मापते हैं। दशहरे पर शक्ति पूजन के प्रसंग में अश्व का भी पूजन किया जाता है। यह जो अश्वत्थ वृक्ष है यह समस्त शक्तियों का पुञ्ज है। वह जो सर्व-शक्तिमान है वही इस अश्वत्थ के रूप में है और उस मूल तक पहुँचने की साधना ही योगी का प्रमुख कर्त्तव्य है। उस वृक्ष के पत्ते छन्दमय हैं। भांति भांति की ध्वनियां हैं जो उसके पत्तों पत्तों में छन्दरूप में निबद्धित हैं। सिद्धयोग के पथिक को ऊँगली पकड़ा दी जाती है और बाद में मूल तक पहुँचने का मार्ग वह अपने आप प्रशस्त करता चला जाता है। एक एक पत्ते की एक एक ध्वनि को परखता हुआ वह अन्ततोगत्वा उस मूल तत्त्व को पाने के लिए तब तक बढ़ता रहेगा जब तक समस्त शक्तियों के उस अनन्त सागर तक स्वयं नहीं पहुँच जाएगा। इन ध्वनियों के सम्बन्ध में भी अलग अलग साधकों ने अलग अलग मत व्यक्त किए हैं। परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि मूल वस्तु जिसके ध्यान में है वह शाखाओं में उलझ कर नहीं रह जाएगा। वह चाहे 'ओम्' कहे, चाहे 'अमीन' या 'ऐमन्' या 'ऐं' या 'ह्रीं' या 'क्लीं'—वह अन्ततोगत्वा एक निरन्तर प्रवाहमान सनातन स्वर को पहचान कर उससे एकात्मय प्राप्त कर ही लेगा। . . हे साधक मृदंग की ध्वनि से आगे बढ़े, चाहे बांसुरी से, चाहे मेघगर्जन से और चाहे नूपुर ध्वनि से—इनका विविध रूपान्तर तो सिर्फ शाख प्रकरण ही है। मूलतः ये सब ऊपर एक महासमुद्र में ही विलय को प्राप्त करते हैं।

इसी अश्वत्थ के प्रसंग से मन्त्रशास्त्र का उल्लेख भी करना पड़ता है। समस्त ध्वनियां इस अश्वत्थ में निबद्ध होने से समस्त ध्वनियां ही शक्तिमती हैं। वस्तुतः ये ध्वनियां ही शक्ति हैं और इन सब का मूल ही शक्तिमान 'कृष्ण' है। इन्हें पहचान कर इनकी अलग अलग शक्ति का वर्णन मन्त्रशास्त्र में किया गया है। भगवान शंकर ने कहा है—

अमन्त्रं अक्षरं नास्ति
योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

ऐसा कोई भी अक्षर नहीं है जिसमें मन्त्र शक्ति न हो व जिसके सहारे से कोई विलक्षण फल उत्पन्न न किया जा सके। परन्तु उसे जानने वाले और उसका सही उपयोग कर सकने वाले लोग ही दुर्लभ हैं।

भारतवर्ष कर्मभूमि है और समस्त विश्व भोगभूमि है। हमारी इस कर्मभूमि में भगवान योगेश्वर हरि का कृपा-प्रसाद कण-कण में बिखरा पड़ा है। हमारी मातृभाषा हिन्दी जिसे आज तक भारत की राष्ट्रभाषा का गौरवशील स्वरूप नहीं मिला उसका कारण सिर्फ यह है कि हमारे देश के विचारशील लोगों को अपनी संस्कृति और उसके देवत्व का ज्ञान नहीं हुआ या उनके ध्यान तक इन तथ्यों को पहुँचाने का प्रयास किसी विद्वान या महात्मा ने नहीं किया। वास्तव में हिन्दी भाषा ही वह देवभाषा है जिसके पचास वर्ण प्रत्येक मानव की अन्तर्गुहा में आबद्ध हैं जिनके आश्रय से वह क्रम - क्रम से ऊपर उठता है। इन वर्णों का उत्क्रम आश्रय लेकर ही उस ऊर्ध्व मूल तक पहुँचा जाता है। किसी भी धर्म, जाति या देश का मनुष्य हो उसे इन्हीं पचास वर्णों के आश्रय से अपने विचारों की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। इनके Vibration—उच्चारण जनित कम्पन की मन्त्र-शक्ति से ही यह वातावरण पर विजय प्राप्त करने या इनके गलत प्रयोग से आवृत को विनष्ट होने में प्रवृत्त होता है। यह बात जिस दिन विश्व के मनीषी समझ सकेंगे उस दिन हिन्दी केवल भारत की ही नहीं वरन् विश्वभर की घोषित राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेगी। मोक्ष का अधिकारी तो हमें हिन्दीभाषा ही बनाती है।

योग साधना के मार्ग में प्रवृत्त होने वाले साधक को मूलाधार चक्र की रूप रेखा समझा कर तत्रस्थ 'व श ष स' वर्णों का बोध पहले दिया जाता है।

स्वाधिष्ठान चक्र में पहुँचने पर साधक 'ब भ म य र ल' वर्णों के संयोग में आता है।

जब वह मणिपूरक में पहुँचता है तो 'ड ढ ण त थ द ध न प फ' वर्णों से उसका संयोग होता है।

यहां से ऊपर उठने पर अनाहत चक्र की सीमा में प्रविष्ट होकर वह 'क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ' वर्ण ध्वनियों से साक्षात्कार कर उन पर विजय पाता है।

इसके बाद जब और ऊपर उठता है तब विशुद्ध चक्र के सोलह दलों के आश्रय में निवास करने वाले १६ स्वरों 'अ आ इ ई उ ऊ ॠ ऋ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः' का वह साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार ४८ वर्णों का साक्षात्कार यहाँ तक पाकर वह ऊपर आज्ञा चक्र में प्रवेश का अधिकारी बनता है।

श्रीरामकृष्णदेव ने ऐसा कहा है कि विशुद्ध चक्र तक पहुँचा हुआ साधक अपनी त्रुटियों से पुनः संसार में नीचे गिर सकता है। परन्तु विशुद्ध चक्र को भेद कर यदि वह ऊपर आज्ञा चक्र में प्रविष्ट हो जाता है तो फिर संसार में उसके पतन की सम्भावना नहीं रहती। आज्ञा चक्र में पहुँचने पर अंतिम दो वर्ण—'ह्' व 'क्ष' का साक्षात्कार मिलता है।

ये पचास वर्ण हिन्दी बोलने वालों की नित्याभ्यास भाषा में ग्रथित हैं। जब ये 'अं' से क्रम से बोले जाते हैं तब 'क्षं' पर्यन्त सृष्टि क्रम में सृष्टि निर्माण करते हैं और जब उत्क्रम से इनका अभ्यास होता है तो 'क्षं' से 'अं' पर्यन्त ऊर्ध्व पथोन्मुखी बनाकर मुक्ति दायी होकर 'अनन्त शक्ति सागर' की ओर उन्मुख बनाते हैं।

किसी भी मन्त्र को जब योग क्रम से 'योनिमुद्रा' के आश्रय से जपते हैं तब इन पचास वर्णों में मूलाधार चक्र का बीज मन्त्र लं, स्वाधिष्ठान चक्र का बीज मन्त्र वं, मूलाधार चक्र का बीज मन्त्र रं, एवं अनाहत चक्र का बीज मन्त्र यं योजित कर कुल ५४ वर्ण ऊर्ध्व में पहुँचने तक व ५४ ऊर्ध्व से अधोभाग तक—इस प्रकार १०८ वर्णात्मक वर्णमाला के आश्रय में अपने इष्ट मन्त्र को ग्रथित कर जप करने से वह मन्त्र सवीर्य हो जाता है। इस प्रकार स्वल्प क्रम से ही वह पुरश्चरण वत् प्रबल प्रभावशाली होकर अपना फल तत्काल प्रदान करता है। परन्तु यह योनिमुद्रा जाप योगी के ही लिए बोधगम्य होने से सामान्य स्तर के मन्त्र जापक इसके संबंध में कुछ नहीं जानते। अतः प्रयास भी नहीं करते।

भक्तियोग के सम्बन्ध में इस मंत्रयोग का वर्णन करने का कारण यही है कि यह बात स्पष्ट रूप से समझी जा सके कि कोई भी योग पद्धति हो उसका प्रभाव उत्क्रमण अर्थात् ऊपर ले जाना ही है। प्रेमयोग का साधक जब योग का आश्रय लेता है तो अनायास—बिना किसी प्रकार का स्पष्ट साधन किये ही, केवल ईश्वर की इच्छा से ही उसका उत्क्रमण स्वाभाविक होता है। भगवान का नाम है—

कृष्ण। कृष्ण शब्द का अर्थ ही है—आकर्षित करने वाला। यह आकर्षण दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रारम्भ में तो मनुष्य उनके सौंदर्य या बाहर से दिखने वाली शक्तिमत्ता और उनके आश्रय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली निश्चिन्त समाधानता के कारण उनकी ओर खिंचता है। वस्तुतः यह भी अनन्त जन्मों के शुभ प्रभावों के उदय होने पर ही होता है। बाद में तो वे आकर्षण के देवता श्रीकृष्ण प्रेम रस से आप्लावित कर समस्त गुणों व शक्तियों को प्रेम के अनन्त समुद्र में पहुँचाकर घनानन्द से ओतप्रोत करने का कार्य अपने प्रणबद्धता से स्वयमेव ही करते हैं।

यह बात भी विशेषतः विचारणीय है कि प्रेमयोग व भक्तियोग वस्तुतः एक होते हुए भी इसमें भी कुछ अन्तर तो है ही। हम प्रभु की गोद में बैठे हैं, वे प्रभु हमें अपनी इच्छा से नचा रहे हैं—भक्त का भाव कुछ ऐसा ही होता है।

प्रेमीभक्त इससे कुछ और आगे बढ़ जाता है। भगवान की गोद में हम कैसे बैठें? भगवान को कुछ कष्ट कैसे दें? भगवान तो स्वयं हमारे प्रिय हैं, प्रियतम हैं। उन्हें अपने हृदयासन पर बैठाएँ, प्यार करें और उनमें अपने आपको भूल जाएँ—यही प्रेम है। यह प्रेम आत्मसमर्पण और भगवत्प्राप्ति एक साथ देने वाला है। इसमें कहीं कुछ खोना नहीं है और सब कुछ—संसार की सबसे बड़ी तृप्ति एक बार प्राप्त कर लेना ही है। स्पष्ट ही यह साधना अन्तिम साधना ही है और इससे पूर्व तो भक्ति की विविध धारणाओं का सहारा लेना ही पड़ता है।

यह बात ध्यान रखने की है कि कामदेव एवं श्रीकृष्ण दोनों का बीजमन्त्र एक ही है—क्लीं'। इसके अन्दर भी एक रहस्य है। जब मनुष्य आकर्षित या कामुक होता है तब उसकी एकाग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। बहुत से लोग प्रेम में निराश होकर अपनी आत्म हत्या कर बैठते हैं क्योंकि उनकी समस्त चित्तवृत्तियाँ अपने प्रेमास्पद में एकाग्र हो जाती हैं। अतएव उनकी वह एकाग्र चित्तवृत्ति यदि किसी संयोग से भगवान की ओर उन्मुख हो जाए तो वे इतनी शीघ्रता और तेजी से भगवत्साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं जितनी तीव्रता से अन्य मार्गों के साधक नहीं पा सकते। संत तुलसी दास, बिल्वमंगल, सूरदास आदि के उदाहरण इस सम्बन्ध में प्रख्यात रूप से विचार ीय हैं।

अतः अपने आपको उस परम सौन्दर्य की सुखद अनुभूति में डुबो दो। यह निश्चित् जानों कि यदि उस प्रभु के प्रीति रस का आस्वादन हो रहा है तो तुम्हारी समस्त कामनाएँ स्वयमेव पूर्ण होंगी। क्योंकि इस प्रभु ने स्पष्ट कहा है—

जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे॥ 卐卐

पूर्व प्रकाशित से आगे—

❋ योग-चिकित्सा ❋

❋ श्री गिरीशदेव वर्मा

उपस्थ स्नान

यह लुई कुने का Friction sitz bath है। इसको मेहन नहान भी कहते हैं। कमर नहान के लिए जैसा टब प्रयोग किया जाता है वैसा ही टब उपस्थ स्नान के लिए लेते हैं। टब इतना बड़ा हो कि उसमें २० सेर पानी आ जावे और उसमें एक तिपाई रखी जा सके। तिपाई में ऊपर का पटरा निम्न चित्र के अनुसार होना चाहिये।

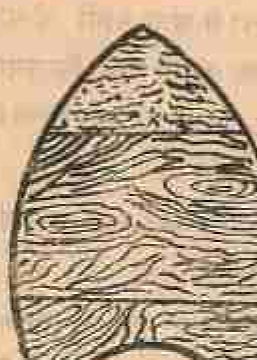

उपस्थ स्नान के लिये तिपाई के ऊपर का पटरा

तिपाई के पाये इतने ऊँचे होने चाहिये कि उसे टब में रखने पर पानी पटरी के चारों ओर टकराता रहे। लेकिन बैठने की जगह गीली न हो। नहाने वाला नंगे बदन तिपाई पर बैठ जावे और पैरों को टब के बाहर निकाल कर किसी पीढ़े पर रख लेवे। अब एक मोटे व मुलायम कपड़े को पानी में भिगो-भिगो कर लगातार जननेन्द्रिय के बाहरी भाग को धोना है।

यदि नहाने वाली नारी है तो कपड़े से एक बार जितना पानी उठाया जा सके उतना उठाना चाहिए और ऊपर से नीचे लगातार धोना चाहिये। जननेन्द्रिय को बहुत जोर से रगड़ना चाहिये। एक दम नंगी होकर नहाना चाहिये। टाँग, पैर और शरीर का ऊपरी हिस्सा सूखा रहे। यदि चूतड़ पानी से भीग जाय तो कोई हर्ज नहीं। मासिक धर्म के समय यह या कोई स्नान नहीं लेना चाहिये। मासिक धर्म में अधिक से अधिक चार रोज लगते हैं। यदि चार रोज से अधिक खून जारी रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि कोई बीमारी है। ऐसी हालत में छठे दिन से नहान शुरू कर देना चाहिये।

उपस्थ स्नान रोगी की आयु व रोग के अनुसार पाँच मिनट से आध घण्टे तक लिया जा सकता है। साधारण अवस्थामें १५ मिनट से शुरू करना चाहिये। जाड़ों में कमरे को गरम रखना चाहिये। इस नहान में पानी जितना ठण्डा होगा उतना ही फायदा होगा।

मर्दों के लिये स्नान की विधि इस प्रकार है। नहाने वाले पुरुष को चाहिये कि वह इन्द्री को बन्द कर ले और फिर जिन अंगुलियों से सुविधा हो, इन्द्री के अगले हिस्से के चमड़े को बायें हाथ से खींचकर पानी के भीतर ले जाय और दांये हाथ में कपड़ा लेकर आगे वाले चमड़े को लगातार ऊपर से नीचे रगड़-रगड़ कर धीरे-धीरे धोवे। इन्द्री का बिलकुल आगे का हिस्सा बाहर खिंचा हुआ चमड़ा ही धोना इस नहान में जरूरी है। इसलिये इस खिंचे हुए चमड़े को सामने से बिलकुल नहीं पकड़ना चाहिये। सिर्फ एक तरफ से अंगुलियों के सहारे इस तरह चमड़ा खींचना चाहिए कि इस हिस्से को अच्छी तरह धोया जा सके।

जो रोगी भीतर की सूजन से बीमार है या जिनके भीतरी अंगों में पुराने रोग के कारण विकार आ गये हैं, उनकी भीतरी सूजन कुछ नहान के बाद ही नीचे खिंच कर जननेन्द्रिय के दोनों तरफ आ जाती है। इससे घबड़ाना नहीं चाहिये। नहान को जारी रखना चाहिये और नई सूजन की जगह मिट्टी की पट्टी रखना चाहिये।

यह पूछा जा सकता है कि इस स्नान के लिये जननेन्द्रिय का ही चमड़ा क्यों लिया जाता है। बात यह है कि इस काम के लिये इससे बढ़कर कोई भी दूसरी जगह नहीं है। शरीर के किसी भी हिस्से में खास-खास नाड़ियों के इतने सिरे नहीं हैं जितने जननेन्द्रिय के इस हिस्से में हैं। इसको धोने से सारे शरीर पर उसका असर पड़ता है। जननेन्द्रिय को धोने से भीतर बढ़ी हुई गरमी कम ही नहीं हो जाती बल्कि नाड़ी संस्थान में भी ताजगी आ जाती है। इससे शरीर के सभी हिस्सों में जीवन शक्ति पहुँचती है। स्वास्थ्य के लिए दो ही बातें जरूरी हैं—भोजन का ठीक-ठीक पचना और नाड़ी संस्थान का ठीक हालत में रहना। सो ये दोनों बातें कमर नहान व मेहन स्नान से हो जाती हैं।

जो रोगी बहुत कमजोर है अथवा जहाँ टब व तिपाई का प्रबन्ध न हो सके वहाँ ऐनिमा की टोंटी से या जल नेति वाले लोटे के टोंटी से जननेन्द्रिय पर पानी की धार छोड़ी जाय। यह ध्यान रहे कि रोगी के पैर न भीगें।

पुराने रोगों में पहिले तीन हफ्ते सुबह

शाम कमर स्नान और उसके बाद सुबह को कमर स्नान और शामको मेहन स्नान अथवा सुबह को मेहन स्नान व शाम को कमर स्नान लेना चाहिये। औरतों की बीमारियों में कुछ दिनों तक दोनों स्नान लेकर केवल मेहन-स्नान दोनों समय लेते रहना चाहिये। चेचक में जबकि पेड़ू पर भी दाने निकले हों या किसी हालत में कमर नहान लेना न सम्भव हो तो केवल मेहन नहान से काम लेना चाहिये। नाड़ी की खराबियों में, नींद न आने की हालत में सिर में बेचैनी रहने की हालत में, मृगी और पागलपन इत्यादि रोगों में मेहन नहान बहुत फायदा करता है।

कमर नहान व मेहन नहान के सम्बन्ध में इन बातों का ख्याल रखना चाहिये।

(१) बंधे समय पर यह स्नान हर रोज लिये जायँ।

(२) इन नहानों के दो घण्टे बाद या पहिले मामूली स्नान कर सकते हैं। लेकिन चिकित्सा के लिये पहिले यह नहान लेकर, तब दो घण्टे के बाद मामूली तौर पर नहाना चाहिए। मजबूत आदमी जो स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये यह नहान लेते हैं मामूली तौर पर नहाने के बाद तुरन्त ही कमर नहान या मेहन नहान ले सकते हैं, लेकिन रोगियों और कमजोरों के लिये दोनों नहानों में अन्तर देना जरूरी है। इन नहानों के एक घण्टे बाद भोजन कर सकते हैं, पहिले नहीं।

(३) नहान के बाद पानी पी सकते हैं पर बहुत ठण्डा नहीं।

(४) भोजन के कम से कम तीन घण्टे बाद नहान लेना चाहिये, लेकिन अगर भोजन के बाद कोई तकलीफ, खासकर पेट की शुरू हो जाय तो दो घण्टे से पहिले भी ये नहान लिये जा सकते हैं।

(५) नहान के दिनों में भोजन पर बहुत ख्याल रखना चाहिये। मिर्च, मसाले, प्याज, लहसुन और तेल की पकी चीज या और गरम चीज जैसे चाय, कहवा और तम्बाकू आदि का व्यवहार बिलकुल मना है।

(६) ब्रह्मचर्य का पालन जरूरी है।

(७) जब बदन ठण्डा रहे तो कोई नहान न लेना चाहिये। बदन को रगड़ कर या गरम कपड़े से ढक कर गरम कर लीजिये।

—केवल श्मशान वैराग्य या क्षणिक वैराग्य उत्पन्न होने पर जो सद्गुरु की शरणमें जाता है, उसका ज्ञान कभी ठहर नहीं सकता। जो मनमें कृत्रिम भाव रखकर गुरुमंत्र लेता है, वह मंत्र के कारण दो दिन के लिए शिष्य बनता है। इस प्रकार वह बहुत से गुरु बना लेता है और पाखंड की बातें भी सीख लेता है। ऐसे व्यक्ति को न सद्गुरु प्राप्त हो पाते हैं और न सद्ज्ञान।

—समर्थ रामदास

एकतत्वाभ्यास

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम. ए. एम. एड.

साधक योगारूढ़ होने के लिए नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प के बाद लोभ वश अभ्यास में जैसे ही प्रवृत्त होता है वैसे ही सिर मुड़ाते ही ओले पड़ने वाली बात चरितार्थ होने लगती है। नाना प्रकार के रोग, विघ्न तथा संदेह अपने दल-बल के साथ योगरूपी यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने लगते हैं। जो साधक दृढ़ प्रतिज्ञ तथा उत्साही होते हैं वे संयम के बाणों से विघ्नरूपी राक्षसों का संहार कर यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण कर लिया करते हैं। किन्तु जो दूसरों से फलश्रुति सुनकर देखादेखी योगाभ्यास करने लगते हैं वे यदि मन्दवीर्य हुए तो विघ्न आते ही डाक्टरों की शरण में चले जाते हैं और योग के स्थान पर रोग की उपासना और सेवा करने लग जाया करते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने योगमार्ग के नौ अन्तरायों का उल्लेख किया है—

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपकास्तेऽन्तरायाः।

(यो० सू० १/३०)

(१) व्याधि—शरीरमें अयुक्ताहार विहार से वात, पित्त, कफ के परिणाम की गड़बड़ी से शरीर की धातु तथा रस कुपित हो जाते है जिससे पाचन, श्वसन तथा इन्द्रिय संस्थानों में विकलता आ जाती है। इस विकलता से चित्त क्षुब्ध होकर हर क्षण इसी के चिन्तन में लग जाता है जिससे योगाभ्यास रुक जाता है।

(२) स्त्यान—जब मन लुब्ध हो जाता है तो भी योगाभ्यास में नहीं लगता। अनमनी अवस्था को स्त्यान नामक अन्तराय कहा गया है।

(३) संशय—बुद्धि अपने संस्कार बड़ी कठिनाई से छोड़ पाती है। जड़ पदार्थों का चिन्तन करते-करते बुद्धि में जड़ता के ऐसे दृढ़ संस्कार पड़ गये हैं कि गुरुदेव, ईश्वर, मन्त्र तथा योग क्रिया के विषय में पूर्ण विश्वास तो होता ही नहीं प्रत्युत उसकी असफलता के विषय में अधिक विश्वास होने लगता है। बुद्धि 'भेड़ियाधसान' स्थिति के प्रति पक्षपाती है। जिस कार्य को अधिक लोग करते हैं उसे ही व्यक्ति ठीक मानने लगता है तथा योगमार्ग को कठिन मानकर योगाभ्यास के अर्थ के साथ उसकी इति भी कर देता है। साधारण जीवों

को तो विसातही क्या, देवाधिदेव महादेव की शक्ति-स्वरूपा अर्द्धाङ्गिनी पार्वती को भी संशय हो गया कि वन-वन घूमने वाले तथा प्रिया के वियोग में रोने वाले राम ईश्वर कैसे हो सकते हैं। अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में साधक की यह दशा होती है कि 'दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।'

(४) प्रमाद—योगी की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि दीर्घकाल तक नियमपूर्वक, अनवरत, श्रद्धा के साथ फल की आकांक्षा को छोड़कर अभ्यास किया जाय। उत्साह-हीन व्यक्ति को योग की क्रियायें विघ्न लगने लगती हैं।

(५) आलस्य—आलस्य से बड़ा मनुष्य का दूसरा कोई शत्रु नहीं है। शरीर जब अकर्मण्य हो जाता है या साधक दिन में सोता है रात में जगता है तो अयुक्त जागरण और निद्रा से शरीर में कफ की वृद्धि होने से शरीर में भारीपन रहता है। तमोगुणी भोजन से भी आलस्य बढ़ता है।

(६) अविरति—साधक का चित्त विषयोन्मुख होने से योग साधना करते समय योग की वास्तविक भूमिकाओं की ओर न होकर, लोगों की प्रशंसा और फूल माला, प्रसाद, भोजन तथा चरण संवाहन में अधिक लगता है तो योग सिद्धि नहीं हो पाती।

(७) भ्रान्तिदर्शन—थोड़ा सा योगाभ्यास करने से कुछ अनुभूतियां होने लगती हैं। साधक को दो प्रकार की भ्रान्ति होने लगती है। ध्यान में जो कुछ दिखाई पड़ता है उसे साधक मन की कल्पना समझकर उसमें संदेह करने लगता है, दूसरी भ्रान्ति की स्थिति होती है जब साधक थोड़े से नजारे को देखने से अपने को पूर्ण सिद्ध समझने लगता है और बिना शक्ति अर्जित किये बाहरी दिखावा करने लगता है।

(८) अलब्धभूमिकत्व—योगमार्ग में बिना सद्गुरुदेव की कृपा के सफलता नहीं मिलती। साधक जब अभ्यास के बाद भी मधुमती मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति एवं अतिक्रान्त भावनीय नामक समाधि की अवस्थाओं को प्राप्त नहीं कर पाता तो वह असफलता के कारण हतोत्साही हो जाता है और योगाभ्यास छोड़ बैठता है।

(९) अनवस्थितत्व—जो साधक थोड़ी सी स्थिति प्राप्त कर अपने को कृतकृत्य मानने लगता है उसका अभ्यास रुक जाता है तथा अपनी प्राप्त स्थिति से भी नीचे गिर जाता है क्योंकि उसका मन अव्यवस्थित हो जाता है।

योग के उपर्युक्त नौ अन्तरायों के अतिरिक्त कई अन्य प्रकार की बाधायें उपस्थित होती हैं। जिनका निर्देशन योगदर्शन के सूत्र में इस प्रकार किया गया है—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः ।

(यो. सू. १/३१)

दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुःखों से पीड़ित होने पर योगाभ्यास नहीं होता। चित्त निरन्तर विक्षुब्ध बना रहता है। कामना की पूर्ति में बाधा होने से चित्त खिन्न हो जाता है। यही दौर्मनस्य है। प्राणों की गति ठीक न होने से शरीर में कम्पन होने से आसन सिद्ध नहीं होता। प्राणों की चंचलता के साथ मन भी चंचल होता है जिससे एकाग्रता नष्ट हो जाती है तथा चित्त समाहित नहीं रह पाता।

उपर्युक्त अन्तरायों तथा विक्षेपों को दूर करने के लिए आसन, प्राणायाम, महाबन्ध, महामुद्रा, महावेध तथा ईश्वर प्रणिधान का अभ्यास करना चाहिए। ईश्वर और श्री सद्गुरुदेव के प्रति सर्वात्मा समर्पित हो जाने से सभी प्रकार के अन्तरायों का अभाव हो जाता है तथा उनकी कृपा से समाधि सिद्धि भी हो जाती है। समाधि-निष्ठ व्यक्ति के जीवन से विघ्न हट जाया करते हैं। शंकराचार्य ने सुखी व्यक्ति का लक्षण किया है—जो समाधि निष्ठ हो वही सुखपूर्वक रहता है—

'शेते सुखम् कस्तु ? समाधिनिष्ठः ।'

जप और ध्यान विघ्न - निवृत्ति के लिए कवच का कार्य करते हैं। महर्षि पतञ्जलि जप और ध्यान का फल बताते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च । (१/२९)

अर्थात् ध्यानपूर्वक जप करने से चेतन-तत्व की सन्निधि होती है तथा अन्तरायों की निवृत्ति हो जाती है। ईश्वर प्रणिधान का फल होता है—

समाधि सिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात् ।

(यो. सू. २/४५)

अर्थात् परम गुरु ईश्वर के चरणों में सब कुछ न्यौछावर कर स्वयं भी न्यौछावर होने से ईश्वर की कृपा का फल मिलता है समाधि की सिद्धि। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि उस स्थिति में स्थित होने पर व्यक्ति कूटस्थ हो जाता है तथा बड़े से बड़े दुःखों से भी वह विचलित नहीं होता। (न गुरुणाऽपि दुःखेन विचाल्यते) जप तथा ध्यान दुःख द्वन्द्वों से छूटने का अमोघ उपाय है। यदि साधक अन्तरायों की निवृत्ति के लिए उपचार, अनुष्ठान, देवी-देवता की आराधना, दान, यज्ञ तथा तीर्थाटन करने लगे तो अन्तरायों की निवृत्ति पूर्णतया नहीं होगी। ग्रहशान्ति करने के समय तक एक अन्तराय की निवृत्ति रहेगी। जैसे ही क्लिष्ट वृत्तियों का पुनः सदृश प्रवाह हुआ

पुनः अन्तराय उपस्थित हो जायेंगे। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है—

पुराने जमाने की बात है। एक राजा था। वह पैदल घूमने का बहुत शौकीन था। अपनी प्रजा का कुशलक्षेम जानने के लिए वह स्वयं पैदल चलकर जाया करता था। पैदल चलने से उसके पैरों में धूल तो लग ही जाती थी कभी-कभी कांटे और पत्थर भी चुभ जाते थे। राजा प्रतिदिन कांटे निकालता, घावों की मरहम पट्टी करवाता तथा पुनः चल पड़ता। प्रतिदिन कांटे निकालते-निकालते राजा तङ्ग आ गया। एक दिन उसने अपने मन्त्रियों को बुलाकर हुक्म दिया कि जिस रास्ते से मुझे जाना है उसकी पूरी सफाई करा दी जाय जिससे न वहां धूल रहे और न कांटे। राजा की आज्ञा सुनते ही सेवक आनन-फानन में मार्ग साफ करने में जुट गये और उन्होंने भरसक प्रयत्न किया कि मार्ग को कण्टक तथा धूल रहित बना दिया जाय। वे अपने प्रयत्न में सफल भी हुए। राजा को सेवकों ने सूचना दी कि महाराज रास्ता साफ कर दिया गया है। राजा प्रसन्न होकर घूमने चल पड़ा। हवा से उड़कर धूल आ गई और साफ किये हुए मार्ग में व्याप्त हो गई। जैसे-तैसे बचकर राजा आगे निकला ही था कि उसके पैर में कांटा चुभ गया। राजा को सेवकों पर क्रोध आया। उसने दण्ड के लिए सेवकों को हाजिर होने का हुक्म दिया। सेवक उपस्थित हो गये।

राजा आग बबूला होकर बोला—तुम लोगों ने रास्ता कैसा साफ किया है? देखते नहीं मेरा पैर लहूलुहान हो रहा है! क्यों न तुम्हें लापरवाही के अपराध की सजा दी जाय। सेवक सिर नीचे किये खड़े थे। बोलने की किसी की हिम्मत न हो रही थी। एक वृद्ध सेवक ने कड़ा जी कर बोलने के लिए ओठ खोले और डरते-डरते बोला—अन्नदाता आप जो सजा देना चाहें वह हमें मंजूर है लेकिन हम मजबूर हैं और निर्दोष हैं। हमने रास्ता अच्छी तरह साफ कर दिया था पर हवा पर हमारा वश कहां है? हवा से उड़कर फिर मार्ग में धूल तथा कांटे आ जाते हैं। इसमें हमारा क्या दोष है? राजा सेवकों की बात सुनकर गम्भीर हुआ और उसके माथे पर सलवटें पड़ गयीं। झुँझलाकर राजा बोला—'तो क्या मेरे पैर इसी प्रकार घायल होते रहेंगे?' वृद्ध चतुर सेवक ने कहा—नहीं महाराज! आपके पैर क्यों घायल हों। आपके दुश्मनों के पैर घायल हों। अन्नदाता अगर मेरी गलती क्षमा करें तो मैं आपको एक ऐसी तरकीब बताऊँ जिससे आपके पैर न गन्दे होंगे और न कांटों से लहूलुहान। राजा ने ऊँची आवाज में सेवक से कहा—'डरो मत! जल्दी बताओ।' सेवक बोला—महाराज आप कहां-कहां का रास्ता साफ करवायेंगे। सारे

रास्ते साफ हो सकें यह असम्भव है और यह भी असम्भव है कि हवा से उड़कर साफ किये हुए रास्ते पर पुनः धूलि तथा काँटे न आयें। इसलिए अच्छा रह है कि बाहर की चौकसी करने की अपेक्षा आप अपने पैरों में जूते पहन लीजिए। काँटे रहेंगे किन्तु वे आपके नहीं लग पायेंगे। आप वे रोक-टोक जहाँ भी जाना चाहें, जाइये। वृद्ध सेवक की बात राजा की समझ में आ गई और उसने जूते बनवा लिये। जूते पहनकर राजा स्वेच्छा विहार करने लगा।

हमारी साधना में भी बाहर का प्रबन्ध करने की अपेक्षा अपने मन को वश में करने का प्रयत्न करना अधिक लाभदायक है। जो लोग दूसरों को सुधारने के चक्कर में पड़े रहते हैं वे शायद ही सफल हो पाते हैं। यदि हम स्वयं अपने को सुधार लें तो सबको सुधार सकेंगे। योग के अन्तरायों की निवृत्ति के लिए महर्षि पतञ्जलि ने एकतत्व के अभ्यास को परम उपयोगी कहा है—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ।

(यो. सू. १/३२)

अर्थात् योगाभ्यास के अन्तरायों को हटाने के लिए एकतत्व का अभ्यास करना चाहिए। इस सूत्र का प्रत्येक शब्द विचारणीय है। अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा चित्त का निरोध करना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में 'अभ्यास' तथा 'एकतत्व' दो शब्द महत्वपूर्ण हैं। अभ्यास का लक्षण महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।

(यो. सू. १/१३)

वीर्य और उत्साह के साथ धैर्यपूर्वक स्थिति प्राप्त करने में प्रयत्न करना अभ्यास कहलाता है। आचार्य नारायण तीर्थ ने उत्साह, साहस, धैर्यपूर्वक अध्यात्म विद्या का अध्ययन, सिद्ध पुरुषों की सेवा तथा शौच-सन्तोष तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान नियमों तथा अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह नामक यमों का पालन करने के समुचित प्रयत्न को अभ्यास कहा है। चित्त को बहिर्मुखता से अन्तर्मुखी बनाना उत्साह है तथा गुरु प्रदत्त क्रियाओं में प्रवृत्त होना साहस है। एक दिन कार्य-सिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार का निश्चय कर आनन्दपूर्वक कार्यरत रहना धैर्य है। जिस प्रकार टिटहरी अपनी चोंच से समुद्र की एक-एक बूंद उठाकर बाहर फेंकने में लग गई। उसे विश्वास था कि अपने बच्चों को बहाने वाले समुद्र को एक दिन मैं अवश्य सुखाकर रहूँगी। उसके दृढ़ निश्चय के परिणामस्वरूप पक्षिराज गरुड़ तथा अन्य पक्षी टिटहरी की सहायता के लिए आ गये समुद्र ने जब पक्षियों का दृढ़ संकल्प देखा तो उसने टिटहरी के बच्चे लौटा दिये। इस

प्रकार उत्तमकोटि का साधक अभ्यास के द्वारा चित्त को निरुद्ध कर लिया करते हैं। अभ्यास द्वारा चित्त स्थिर हो जाता है। चित्त के स्थिर होने से प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ स्वतः स्थिर हो जाती हैं। उस समय चित्त में प्रशान्तवाहिता अवस्था प्रवाहित होने से हर्ष-शोक, दुःखदौर्मनस्य आदि अन्तराय दूर हो जाते हैं तथा चित्त निरालम्ब होकर आनन्द में डूबा रहता है। भगवान व्यासदेव जी ने योग वार्तिक में कहा है —

वृत्त्यन्तराभावात् प्रशान्ता हर्षशोकादितरंगरहिताएकाग्रवृत्तिधारेत्यर्थः।

आचार्य विज्ञान भिक्षु ने अभ्यास का फल निरूपित करते हुए कहा है कि पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के द्वारा नियमतः अनवरत अभ्यास के द्वारा चित्त की क्लिष्ट वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। शान्त का लक्षण है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च
भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लापयति च
स शान्त इति कथ्यते॥

(महोपनिषद् ४/३२)

श्रुति सुखद या कर्कश शब्दों को सुनकर, कोमल अथवा कठोर वस्तु का स्पर्श कर, सुन्दर अथवा कुरूप दृश्य देखकर, स्वादिष्ट अथवा स्वादरहित पदार्थ खाकर, सुगन्ध तथा दुर्गन्ध सूँघकर जो हर्ष विषाद नहीं करता वह जितेन्द्रियी शान्त कहलाता है।

अभ्यास का अर्थ हुआ धैर्य उत्साह एवं साहसपूर्वक श्रद्धा-विश्वास के साथ सन्तों, ऋषियों तथा सिद्धों का सत्संग स्वाध्याय एवं उनकी सेवा करते हुए यम नियमों का पालन करना तथा गुरूपदिष्ट मन्त्र का जप एवं ध्यान करना। महर्षि ने विघ्न शान्ति के लिए एकतत्व के अभ्यास का आदेश दिया है। आकाशादि पंचतत्व हैं। भौतिक शास्त्र में २५ तथा सौ तत्व तत्व माने जाते हैं। इनमें किस एक तत्व का अभ्यास किया जाय? इस प्रश्न का समाधान व्यासदेव जी महाराज इस प्रकार करते हैं। व्यक्ति के चित्त में क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न वृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है यही चित्त की सर्वार्थता है। जब क्षण-प्रत्यय का बाध होकर एकाग्रतारूपी सदृश प्रवाह होने लगता है तब चित्त में साक्षीभाव रूपी (अहं प्रत्यय) अस्मितानुगत वृत्ति का उदय होता है। साक्षीभाव का अभ्यास करने से विघ्न दूर हो जाते हैं। साक्षीभाव का निरूपण पंचदशी नामक ग्रन्थ में नाटक दीपक प्रसंग में नाना प्रकार के हावभाव करते हुए नट तरह तरह के अभिनय करते हैं किन्तु दीपक को उनके अभिनय से न सुख होता है न दुःख। वह उदासीन भाव—साक्षी भाव से

सारे क्रिया-कलापों को देखता रहता है। उसमें द्रष्टा भाव ही होता है। दीपक न यह सोचता है कि मेरे प्रकाश में यह सब हो रहा है और न यह कि मेरे लिए यह हो रहा है। इसी प्रकार ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचकर मुमुक्षु में 'तत्त्वमसि' भाव का उदय होता है। वही भाव अहं ब्रह्मास्मि तथा 'नेहनानास्ति किञ्चन' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' आदि बुद्धि वृत्ति के रूप में परिणत हो जाता है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र एक तत्व की दूसरी व्याख्या करते हैं। 'एकं तत्वमीश्वरः प्रकृतत्वादिति।' अर्थात् एक तत्व ईश्वर है क्योंकि क्लेश कर्म परिणामों से अछूता पुरुष विशेष, अनादिसिद्ध, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान परमगुरु ईश्वर ही स्वरूप-सिद्धि का लक्ष्य है। पुरुष विशेष की कोटि प्राप्त करने से जीव कर्म-बन्धन से मुक्त होकर पूर्ण बनता है। 'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः।' अर्थात् सभी के पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं—इस नियमानुसार ईश्वर में ही सभी तत्व समाविष्ट हो जाते हैं। उसके जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। परमहंस रामकृष्ण कहते थे कि यदि तुम्हारी मित्रता मालिक से हो जाय तो सहज ही तुम्हें उसकी सब वस्तुओं का ज्ञान हो जायगा। वह तुम्हें स्वयं बता देगा कि मेरे इतने बगीचे हैं, इतने खेत हैं, इतने मकान हैं और मेरे पास अमुक-अमुक सम्पत्ति है। अतः—

एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय।
जो तू सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय॥

एक ईश्वर की सन्निधि करने, और उपासना करने से संसार का ज्ञान हो जायगा तथा सारे विघ्न आप से आप उसी प्रकार दूर हो जायेंगे जिस प्रकार हवा के झोंकों से घटायें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं तथा जैसे बाज पक्षी के आते ही सारे पक्षी भाग जाते हैं। महायोगी तुलसीदास कहते हैं—

सकल विघ्न नहि व्यापहिं तेही।
रामकृपा करि चितवहिं जेही॥

'तत्त्व' शब्द में भी अनूठा भाव छिपा हुआ है। 'तत्' की अहमियत का नाम तत्व है। बस तू ही तू है उसका शुद्ध रूप तत्व है। जिसमें माया, अज्ञान, अविद्या की मिलावट न हो। 'वही' वह, बस 'वही' शुद्ध-बुद्ध मुक्त, केवल अविनाशी चेतन तत्व है। योगवाशिष्ठ में एक तत्वाभ्यास का फल बताया गया है—प्राण की गति का रुक जाना अर्थात् सहज रूप से प्राणायाम सिद्ध हो जाना।

यथाभिवाञ्छित ध्याना-
च्चिरमेकतयोदितात्।
एक तत्वघनाभ्यासात्-
प्राणस्पन्दो निरुद्धयते॥
(५/७८/१९)

अर्थात् ध्यान द्वारा एक तत्व की एकता का अनुभव करते हुए दृढ़ अभ्यास करने से प्राण की गति का निरोध हो जाता है तथा अभ्यास द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है तथा निर्वाणोन्मुख स्थिति हो जाती है—

अभ्यासेन परिस्पन्दे
प्राणानाम् क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति
निर्वाणमवशिष्यते ॥
(५/७८/४६)

मन के शान्त होते ही दुःखों का अभाव हो जाता है तथा सबमें व्याप्त शान्त ब्रह्म का भीतर बाहर सर्वत्र अनुभव होने लगता है। एक अन्य स्थल पर योगिराज वशिष्ठ भगवान राम को एक तत्वाभ्यास की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

एक तत्वघनाभ्यासाच्छान्तं
शाम्यत्यलं मनः ।
तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन
प्राणोऽपि शाम्यति ॥
(१/६६/४८)

मन और प्राण का परस्पर जल और तरंग की तरह अभिन्न सम्बन्ध है। एक के शान्त होने पर दूसरा अपने आप शान्त हो जाता है। एक तत्व के गहरे अभ्यास से मन सहज में शान्त हो जाता है। मन जब अपने कारण संकल्प में लीन हो जाता है तो उसके लीन होने पर प्राण भी लीन हो जाता है।

संसार सागर से पार उतरने के लिए योग ही एकमात्र आधार है। योगवाशिष्ठ में योग संसिद्धि के तीन उपायों का निर्देश किया गया है—(१) एक तत्व का दृढ़ अभ्यास (२) प्राणों का निरोध (३) मनो निग्रह। इनमें से किसी एक का अभ्यास हो जाने पर तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। इन तीनों में चित्तनाश सबसे उत्तम उपाय है। इसके सिद्ध होने पर योग सिद्ध हो जाता है।

एकतत्वाभ्यास की विधियां—

(१) अर्थभावनापूर्वक मन्त्र जप— अपने गुरु प्रदत्त मन्त्र के प्रकाश तथा गुञ्जार से समस्त चराचर को व्याप्त देखने के अनुभव से मन एकाग्र तथा शान्त रहता है।

(२) धारणाओं द्वारा—पार्थिव, वायव्य, तैजस, जलीय एवं आकाशीय धारणाओं द्वारा मन तदाकार होकर सूक्ष्म होते-होते अपने कारण में लीन होने लगता है। संकल्प-विकल्प को ही मन कहते हैं। जब विचारों की तरंगें नहीं उठती केवल एक विचार और गहरा मौन प्राप्त हो जाता है तो परमानन्द प्राप्त होता है। विशाल सागर की धारणा करने से मन व्यापक सत्ता के साथ जुड़ने लगता है। इसी प्रकार अनन्त आकाश की धारणा, प्रभं-

जल की धारणा, शीतल मन्द सुगन्ध की धारणा, चतुर्दिक परिव्याप्त हिमशृंग मण्डित पर्वत की धारणा करने से मन का रूपान्तर हो जाता है।

(३) शून्य तथा महाशून्य में लयता द्वारा— जिस प्रकार मोर के रंग-बिरंगे पंखों में पांच शून्य दिखाई देते हैं उसी प्रकार इन्द्रिय समूहों के द्वारा चित्र-विचित्र दिखाई देने वाले जगत में शून्य की भावना करने से योगी का मन हृदय में महाशून्य की धारणा के साथ परमाकाश में लीन हो जाता है, जैसा कि शैवागम तन्त्र में उल्लिखित है—

शिखि पक्षैश्चित्ररूपै-
मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये
प्रवेशो हृदये भवेत् ॥

(४) नादानुसंधान द्वारा— जिस प्रकार अविच्छिन्न गति से कलकल करती हुई नदी बहती है उसी प्रकार दस प्राणों के प्रवाह से सूक्ष्म कम्पन होता है जो सहज एवं स्वाभाविक रीति से हर समय होता रहता है। उसको षण्मुखी मुद्रायें (आंख, कान, नाक, मुख को अपनी अंगुलियों से बन्द कर) सुनने का अभ्यास करने से दस प्रकार का दिव्य-संगीत सुनाई देता है जो मनको बाह्य विषयों से हटाकर मूर्च्छित कर देता है। उस समय मन के सरोवर में आत्मा के पूर्ण चन्द्रोदय से अमृत झरने का अनुभव होता है जिससे शरीर मन, इन्द्रिय, प्राण उस अमृत से सराबोर रहने लगते हैं। उससे सारे विघ्न नष्ट हो जाते है। शैवागम तन्त्र में कहा भी है—

अनाहते पात्रकर्णेऽभग्न
शब्दे सरिद्द्रुते ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः
परंब्रह्माधिगच्छति ॥

दूसरा उपाय— भ्रामरी प्राणायाम द्वारा भ्रमर के गुञ्जार की तरह 'ॐकार' की वर्तुलाकार वामावृत गुञ्जार करने से मन षट्चक्रों के मध्य कलिका के नाल में होकर ब्रह्म नाड़ी के मार्ग द्वारा सहस्रार में जाकर निरालम्ब तेज में लीन होकर परम तेजोमय, शान्त तथा शक्तिवान हो जाता है जिससे योगी काल, कर्म तथा स्वभाव के गुण धर्मों से परे निलिप्त अचल तथा ध्रुव स्थितिमें आरूढ़ हो जाता है।

योगवाशिष्ठ में एकतत्वाभ्यास के लिए तीन विधियों का उल्लेख है-(अ) ब्रह्म-भावना (आ) पदार्थों के अभाव की भावना (इ) केवलीभाव का अभ्यास।

(अ) ब्रह्म-भावना— आत्मा जैसी-जैसी भावना करती है वह शीघ्र ही वैसा हो जाता है। दुःखी होना भी उसका अपना स्वभाव नहीं है किन्तु प्रतिकूल पदार्थों से मन संयुक्त

होने के कारण दुःख का आनन्दरूप आत्मा में आरोप हो गया और आत्मा अपने को दुःखी मानने लग गई जैसे वर्षाकाल में नदियों का जल अनन्त समुद्र बन जाता है वैसे ही शुद्ध आत्म-तत्व की भावना करते-करते 'अयमात्मा ब्रह्म' की प्रतीति हो जाती है।

(आ) पदार्थों के अभाव की भावना—त्रिगुणात्मक प्रकाश क्रिया स्थिति स्वभाव का दृश्य चेतन अकर्ता आत्मा से भिन्न है। विवेक ज्ञान होने पर मोह और भ्रम नष्ट हो जाते हैं। अतत्व में तत्व की प्रतीति का नाम ही भ्रान्ति है। मैं धन दौलत, घर, वस्तु, पद नामरूप पदार्थ नहीं हूँ—ऐसा ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है और मैं नाम, रूप, पद, घर, सुखी-दुःखी हूँ—यही ज्ञान भ्रान्ति का ज्ञान है। योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन रूप क्रिया- सबको असत् समझ कर निर्विकल्प समाधि द्वारा एकतत्व के ध्यान में निमग्न होने से हृदय में वासना का बीज अंकुरित न होने से राग-द्वेष की उत्पत्ति न होने से संसार की भावना निर्मूल हो जाने से निर्बीज समाधि की उपलब्धि हो जाती है। वास्तविक ज्ञान वह है जिससे जगत् की असारता, असतता का ज्ञान हो जाय और उससे जगत के पदार्थों से बुद्धि बोध छूटकर आत्म-बोध का उदय हो जाय।

तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं
भवेन्नान्येन कर्मणा।
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु
ऋते नान्या शुभा गतिः॥

अर्थात् दृश्य रूप संसार का अत्यन्ताभाव किये बिना ब्रह्मरूपता नहीं हो सकती।

(इ) केवलीभाव का अभ्यास--हारा थका व्यक्ति बहुमूल्य पदार्थों तथा भोज्य वस्तुओं यहाँ तक कि अपने प्राण-प्यारे बच्चों तथा प्रिय पत्नी से भी अलग होना चाहता है। उसे किसी की बात नहीं सुहाती। वह ऐसे स्थान पर जाना चाहता है जहाँ कोई शोर-गुल न हो, न बच्चे हों न उसकी पत्नी हो—कोई भी प्रिय से प्रिय वस्तु भी वहाँ न हो। केवल वही अकेला हो, केवल वही वह। जागृत से जब व्यक्ति स्वप्न में पहुँचता है तो जागृत अवस्था के बाह्य विषयों के साथ उसका सम्बन्ध छूट जाता है और वह अपने आपको हल्का महसूस करता है। स्वप्न में मानसिक स्मृतियों के संयोग से भी वह सुख-दुःख अनुभव किया करता है। स्वप्न से जब वह सुषुप्ति में प्रवेश करता है तो व्यक्ति अधिक अकेला हो जाता है। केवल गुणों के साथ उसका सम्बन्ध रहता है। लेकिन इस अवस्था में भी उसे आनन्द की अनुभूति होती है। सुषुप्ति में तमोगुण की प्रधानता रहती है

जब इस अवस्था से परे सतोगुणप्रधान समाधि अवस्था में पहुँचकर 'अहं ब्रह्मास्मि' 'शिवोऽहम्' 'केवलः शिवोऽहम्' यह अनुभव करता है तो उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। केवलीभाव का लक्षण योगवाशिष्ठ में इस प्रकार किया गया है—

यद्दृष्टुरस्याद्रष्टृत्वं
दृश्यमाने भवेद्बलात् ।
तद् विद्धि केवलीभावं
तत एवासतः सतः ॥
(३/४/५३)

अर्थात् दृश्य के अत्यन्त अभाव होने पर जब दृष्टा का दृष्टापन स्वयं ही लीन हो जाता है तथा उस समय जो भाव शेष रहता है वही केवलीभाव है। जैसे हवा के शान्त हो जाने पर उसकी क्रियायें स्वतः रुक जाती हैं उसी प्रकार केवलीभाव के उपलब्ध हो जाने पर राग-द्वेष आदि सभी वासनायें शान्त हो जाती है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् चितिशक्तिः यथा कैवल्ये ।
(यो. सू. १/३)

इस योगदर्शन के सूत्र में केवली अवस्था में आत्मा का शुद्ध रूप शेष रहने की बात कही गई है यही स्वरूप स्थिति, मोक्ष तथा परमहंस अवस्था है।

तीव्र लगन के साथ मन को किसी सीढ़ी के द्वारा अन्तर्जगत में उतार देना चाहिए। यदि मन कुछ और न अनुभव न कर सके अपने को ही देखने लगे तो भी बाहरी घटनायें उसे विचलित नहीं कर सकेंगी और अनन्त आनन्द के सागर में मछली की तरह आत्मानन्द में विचरने लगेगा।

❂ ❂ ❂ ❂

❀ भूल ❀

भूल हम यहां कर जाते है कि अपने को देकर भी हम, कुछ अपने पास बचा रखते हैं, जब हमने कोई वस्तु किसी को सर्वथा दे दी—दे डाली तब वह उसी की हो गई—अब लेने वाला उस पदार्थ को जैसे चाहे—जहां चाहे प्रयोग में लाये, बिगाड़े चाहे उसे संवारे। हमारा अब उससे कोई प्रयोजन नहीं रहा, उस पदार्थ की दुर्दशा को देखकर यदि हमारा मन शिकायत करता है तो समझो हमने उसे सर्वथा नहीं दिया—कुछ अपना अधिकार भी रक्खा है। अतः ऐसा दान पूर्ण-सात्त्विक दान नहीं है—ऐसे ही समर्पण के पश्चात अपने पर हमारा कुछ भी अधिकार नहीं रह जाता, काम निकालने भर के लिए किया गया समर्पण धोखा है—दम्भ है—अज्ञान या माया का भुलावा है, इससे सदा बचना चाहिए यह अहितकर है।

卐 दाम्पत्य जीवन और योग 卐

❀ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. बी. एड. सांख्ययोगाचार्य

पाशुपत दर्शन के अनुसार निष्क्रिय ब्रह्म में जब शक्ति संचरण होता है तो सृष्टि का स्पन्दन होता है। शिव भी बिना शक्ति के शव हैं। जगतगुरु शंकराचार्य सौन्दर्य लहरी में शक्ति के सनातन रहस्य का उद्घाटन करते हैं—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि
भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेत् एवं देवो न खलु
कुशलः स्पन्दितुमपि।

अर्थात् जब शिव शक्ति से संयुक्त होते हैं तभी उनमें क्रिया हो पाती है। शक्ति के अभाव में सर्व सामर्थ्यवान शिव भी सृष्टि करने में समर्थ नहीं होते। षट्चक्र-भेदन के द्वारा शक्ति का संचार और उत्थान होता है। षट्चक्रसमूह को तन्त्रों में 'कुल' नाम से अभिहित किया गया है। 'कुल' शक्ति का पर्याय भी है—'कुलं शक्ति समाख्याता।' नारी शक्ति का मूर्त रूप है। समाज में वह मां, पत्नी, भगिनी तथा प्रेमास्पदा के रूप में मनुष्य के हृदय की प्रेरणास्रोत बनती है। जिनके जीवन में शक्तिरूपा नारी की अनुकूलता नहीं हो पाती, उनका ऐहिक जीवन नारकीय बन जाता है। पारस्परिक झगड़े और अविश्वास के फलस्वरूप समस्त सुख के साधन दुःख रूप बन जाते हैं जिन भाग्यवानों का मन शक्ति से अनुकूलन प्राप्त कर लेता है उनका लौकिक उत्कर्ष होता चला जाता है। साधना के क्षेत्र में दाम्पत्य जीवन यदि नारकीय भोग और कलह परायण है उनको विषपान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें प्रतिदिन मृत्यु के साक्षात् दर्शन होते रहते हैं।

गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों का आधार है विवाह-संस्कार के समय मन्त्र में प्रार्थना की जाती है कि वर-वधू का हृदय और मन समान हो। उस समय वर-वधू इस आदर्श पर चलने की प्रतिज्ञा भी करते हैं किन्तु थोड़े समय बाद ही घर सुख, शांति तथा धर्म-क्रिया-सम्पादन करने की यज्ञ-स्थली बनने के स्थान पर धन-सम्पत्ति के बँटवारे और ईर्ष्या द्वेष के साक्षात् अंगारे बन जाते हैं। योग-मार्ग में पुरुष और नारी ऋण और धन विद्युत

की धाराओं के समान हैं हमारे पुराण साहित्य में अर्धनारीश्वर शिव की कल्पना की गयी है यह कल्पना साधना का मूल मन्त्र है। पुरुष के शरीर में कुण्डलिनी शक्ति नारी के रूप में सदा विद्यमान रहती है। और नारी के शरीर में शान के रूप में शिव तत्त्व सदा विद्यमान है। यह शिव और शक्ति तत्त्व सहस्रार में मिलता है, तब ऊर्जा का विस्फोट होकर अनन्त शक्तियाँ और छिपी हुई अनेक सम्भावनायें प्रकट होती हैं। अन्तर्जगत की यह साधना मूर्ति पूजा की तरह बाह्यरूप में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को प्राप्त होती है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल में एक मन्त्र आता है—

या दम्पती समनसा सुनूत आ च धावतः। देवासो नित्यया शिरा।

ऋ. ८/५/३१/५

जो दम्पत्ति एक साथ समान मन वाले होकर प्रार्थना और उपासना द्वारा परमात्मा में विचरण करने लगते हैं, उन्हें क्लेश कदापि विचलित नहीं कर पाते। जिस प्रकार अच्छा शिष्य-गुरुदेव की सेवा द्वारा उन्हें अपने लक्ष्य प्राप्ति में सहयोग देता है और समय आने पर गुरुदेव की कृपा का लाभ कर स्वयं कृतकृत्य हो जाता है उसी प्रकार सद्गृहिणी अपने पति को साधना का अवसर प्रदान कर पति द्वारा उपार्जित उपलब्धि की स्वतः अधिकारिणी बन जाती है।

स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। जहां दोनों में प्रतिद्वन्द्विता का भाव आता है, वहीं दोनों लड़खड़ा जाते हैं। स्त्री का हृदय तुलसी के शब्दों में "अवगुन आठ सदा उर रहहीं"—आठ अवगुणों का भण्डार है। यदि उपासना-परायण वही हृदय बन जाय तो स्त्रियां पुरुषों से आगे बाजी मार सकती हैं। गीता में योगेश्वर श्री कृष्ण घोषणा करते हैं—

मां पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपिस्युः पाप योनयः।
स्त्री वैश्यास्तथा शूद्रास्ते-
ऽपि यान्ति परांगतिम्॥

अर्थात् हे अर्जुन! कितने ही पाप योनि कोई क्यों न हो अथवा स्त्री, वैश्य तथा शूद्र जैसा निन्दनीय कोई प्राणी क्यों न हो, प्रभु के शरणागत हो जाने पर वह परम पवित्र और पूजनीय बन जाता है। पुरुष इसलिये श्रेष्ठ कहलाता है कि उसमें विवेक और मनन पूर्वक कर्म करने की सामर्थ्य है। (मत्वा कर्माणि सी व्यन्तीति मनुष्यः) मनुष्य की यह शक्ति नारी की ही देन है। दुर्गासप्तशती में नारी की शक्तियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

कीर्तिः श्रीः वाक् नारीणां
स्मृतिः मेधा धृति क्षमा॥

नारी का हृदय देवालय में स्थित भगवान की वरद् मुद्रा है। श्रद्धा की प्रधानता के कारण नारियां योगमार्ग में शीघ्र प्रगति कर सकती हैं और जो सद्गृहिणी हैं, वे गृहस्थाश्रम की पाठशाला में प्रेम, कार्य-विभाजन, एकता, सहयोग, विश्वास, सन्तोष तथा इन्द्रिय जय की सहज, साधना द्वारा भक्तियोग की सहज अधिकारिणी बन सकती हैं। योगपरायण होने पर नादानुसन्धान ही भोग बन जाता है-

भोगस्तु परमेशानि नादो
ब्रह्ममयो भवेत् ।
नादोदितं वरारोहे
विश्वं योनिर्न संशयः ॥

जो सद्गृहस्थ उपासना के इस रहस्य को समझ लेते है, वे परस्पर सहयोग के द्वारा साधना में शीघ्र सफलता प्राप्त कर लेते हैं। पातिव्रत और पत्नीव्रत धर्म से इन्द्रियों की बहिर्मुखता कम होती है तथा अन्तर्मुखी वृत्ति का विकास होता है। जो पुरुष नारी में शक्ति की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा का साक्षात्कार कर सकता है और जो स्त्री पुरुष में सर्वप्रपञ्च के प्रान्त अद्वैत शिव तत्त्व के दर्शन कर सकती है, उन दोनों के लिए सिद्धि दूर नहीं है। जो स्त्री-पुरुष देह और गेह के दायरे में ही गिर कर रह जाते हैं, रूपासक्ति और जिह्वा के गुलाम बन जाते हैं, तुलसी के शब्दों में—'सपनेहुँ सिद्धि सुलभ नहिं तेही।' शक्ति संगम तन्त्र कालीखण्ड के तृतीय पटल में योगाधीश्वर भगवान शङ्कर शक्तिश्वरी पार्वती को योगसिद्धि का उपाय बताते हैं—

परान्नं परद्रव्यं तथैव
तु परिग्रहम् ।
परस्त्री परनिन्दाश्च
मनसापि वि वर्जयेत् ॥
जिह्वा दग्धा परान्नेन
करौ दग्धो प्रतिग्रहात् ।
मनोदग्धं परस्त्रीभिः
कथं सिद्धिर्वरानने ॥
(१७१-१७२)

दूसरे का अन्न, धन ग्रहण करने तथा संग्रह की आसक्ति, परायी स्त्री के संसर्ग और पर-निन्दा से मनोबल क्षीण होता है। अतः साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए। दूसरे का अन्न खाने से जिह्वा जल जाती है, जिससे जप सफल नहीं होता। दूसरे का दान लेने से हाथ जल जाते हैं जिससे सत्कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो पाती। दूसरे की स्त्रियों का सम्पर्क करने से मन दग्ध हो जाता है जिससे उपासना में मन प्रवृत्त नहीं हो पाता। अतः सिद्धि चाहने वालों को परपुरुष और परस्त्रियों में आसक्ति नहीं करनी चाहिये।

सभ्यता के आदि काल से पुरुष और नारी समान रूप से अध्यात्म विद्या के जिज्ञासु रहे हैं। याज्ञवल्क्य और गार्गी, मण्डन मिश्र और भारती, सुलभा लोपामुद्रा, मदालसा, माँ शारदा, मीरा, सहजोबाई, आनन्दमयी, आदि योगकी अमर विभूतियां हैं। हंसासना सरस्वती, पद्मासना लक्ष्मी, सिंहवाहिनी दुर्गा नारी की योगशक्ति की प्रतीक हैं। भारतीय संस्कृति में यज्ञ, अग्नि व धर्म सभी आश्रमों के आधार-भूत तत्व माने गये हैं। जीवन के सारे संयोग यज्ञ और धर्म के निमित्त होते हैं। इसलिये पत्नी को धर्मपत्नी कहा जाता है। यज्ञ ही सबसे बड़ा धर्म है। उसकी पूर्ति समर्पण और सेवा के रूप में स्त्री पुरुष द्वारा होती है। यदि दोनों अपने कर्त्तव्य के प्रति एकनिष्ठ हैं, यदि दोनों के जीवन में ज्ञान, क्रिया और उपासना में सामञ्जस्य होता चलता है तो स्त्री-पुरुष का संयोग योग में बदल जाता है। योग की सम्पत्ति से दोनों का जीवन धर्म और यज्ञमय बन जाता है। योग की मुद्रा और क्रियाओं द्वारा दोनों अनेकत्व में एकत्व का साक्षात्कार करते हैं और शरीर, मन और इन्द्रिय से उठ कर अतीन्द्रिय आनन्द में एक रस होकर हंस बन जाते हैं। रामकृष्ण तो परमहंस की कोटि तक पहुँच गये।

जो लोग गृहस्थ को बाधक समझ कर घरबार छोड़ बन में चले जाते हैं, उनका अधिकांश पतन होते देखा है क्योंकि उनके मन में क्षणिक मर्कट वैराग्य पैदा हो जाता है, सच्चा वैराग्य पैदा नहीं हो पाता जिससे वन में पहुँच कर भी विषयासक्ति से परास्त हो जाते हैं और कुत्ते की तरह वमन को पुनः चाट लेते हैं। जो घर को ही आश्रम बना लेते हैं, वे धन्य हैं। उन्हें भोग और योग दोनों एक साथ उपलब्ध हो जाते हैं। जो स्त्री को घृणा की वस्तु समझते हैं, या उसे भोग की वस्तु समझते हैं तथा जो स्त्री - पुरुष को भी उसी प्रकार समझा करती हैं वे योग के अधिकारी नहीं हैं। स्त्री और पुरुष ब्रह्मांड के सूक्ष्म प्रति-रूप हैं। उनका शरीर देव मन्दिर, यज्ञ की वेदिका, सौर मण्डल और ऊर्जा का भण्डार है। वह नर नारायण, शक्ति और शिव, प्राण और अपान, पृथ्वी और दिव्यलोक, तथा आदि और अन्त के दो ध्रुव हैं। परस्पर सम्मान और पूजा के भाव द्वारा जो इस शरीर में शिव और सुन्दर भावों का सृजन कर लेते हैं, उन्हें देवों की संगति मिलती है और वे देव हो जाते हैं। जो आसक्ति में ही बंधे रहते हैं, उनमें 'मैं' और 'तू' का भाव ही बढ़ जाता है अतीन्द्रिय सुख के उन्हें दर्शन नहीं होते। पति पत्नी दोनों मिलकर यदि योग की साधना करें तो योग की सिद्धि शीघ्र होने में कुछ भी सन्देह नहीं। किसी साधक ने साधना के पथ का सरल शब्दों में बड़ा सुन्दर विवेचन किया है—

श्रीपद ध्यान धरो हिरदै,
जो कछु धन है सो यही धन है।
गुरुज्ञान की गूदरि डारो गरे,
तन छार करी घर ही बन है।
अजपा जाप सुजाप जपो,
और सिद्धमढ़ी अपनो तन है।
जिन सों घर मांझ कछू न बने,
उन सो बन मांझ कहा बन है।

महाभारत में गान्धारी कहती है कि अष्टांग योग के द्वारा पुरुष को जो शक्ति प्राप्त होती है, वह कुलांगनाओं को पातिव्रत योग से प्राप्त हो जाती है—

योगेन शक्तिर प्रभवेद् नराणाम्
पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनानाम्।

पतिव्रता को सहज ही योग प्राप्त हो जाता है। मनु महाराज प्रमाणित करते हैं कि स्त्रियों के लिये अलग यज्ञ, व्रत, उपवास नहीं है। केवल एक पति की सेवा करने से वे देवताओं द्वारा पूजित होकर परम पद प्राप्त कर सकती है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो
न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन
तेन स्वर्गे महीयते॥
(५/१५५)

बकुलस्यामलं चूर्णं भक्षयेद् त पंक्तिष्यु।
वज्रादपि दृढ़ीभूता दन्ता स्युश्चाचला ध्रुवम॥

यदि मौलश्री के चूर्ण का प्रति दिन प्रतिदिन मंजन करे तो दांत वज्र के सरीखे मजबूत हो जाते है।

× × × ×

मद्यो मद्यं कर्णकीटं सुदारुणाम्।
तथा हिंगु निहत्याशु कर्णकीटं सुदारुणाम्।

मदिरा तथा हींग इन दोनों में से कोई भी चीज कान में डाल दी जाय तो कान के कीड़े तुरन्त मर जाते हैं।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् जिसके देह में वात, पित्त, और कफ ये दोष अग्नि रस रक्त आदि धातुयें और धातुओं की मल-क्रिया ये सब सम हैं तथा जिसकी आत्मा, मन और इन्द्रियां प्रसन्न हैं ,वही पुरुष स्वस्थ कहलाता है ।

× + + +

पक्वाशयकटिसक्थिश्रोत्राऽस्थि स्पर्शनेन्द्रियम् ।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः ॥

पक्वाशय (अन्त्र), कटि (कमर के चारों ओर की जगह), सक्थि (ऊरुदेश), श्रोत्र (कान के भीतर का भाग), त्वचा (चमड़ी के सूक्ष्म छिद्र) और हड्डी के भीतर के भाग, ये ६ वायु के स्थूल क्रिया और गति के स्थान हैं । इनमें पक्वाशय मुख्य है ।

× × × ×

नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः ।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥

नाभि प्रदेश (ग्रहणी), आमाशय (मेदा), पसीना, लसीका, रुधिर, रस, नेत्र, त्वचा, ये पित्त के मुख्य स्थान हैं । इनमें नाभि (मणिपूरक चक्र के चारों ओर का प्रदेश) सबसे अधिक मुख्य है ।

× × × ×

उरः कण्ठशिरः क्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः ।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥

उरः (वक्षःस्थल), कण्ठ, मस्तक, क्लोम, संधि स्थान, आमाशय, रस धातु, मेद, नाक और जिह्वा ये कफ के स्थान हैं । इनमें उरः स्थान को विशेष माना है ।

श्लेष्माशयः स्यादुरसि तस्मादामाशयस्त्वधः ।
ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्वामभागे व्यवस्थितः ॥

बीच छाती में श्लेष्मा यानी कफ का स्थान है। उससे नीचे आमाशय है। नाभि के वाम भाग में अग्नि का स्थान है, जिसे लोग ग्रहणी भी कहते हैं।

× × × ×

तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः ।
मलाशयस्त्वधस्तस्य बस्तिर्मूत्राशयः स्मृतः ॥

उस अग्न्याशय के ऊपर एक तिल है, जिसे क्लोम कहते हैं। वह पिपासा का स्थान है। उससे नीचे पवनाशय (वायु का स्थान) है। पवनाशय के नीचे की तरफ मलाशय है, जहाँ मल एकत्रित होता है। उस मलाशय के नीचे दाहिनी तरफ मूत्राशय है, जिसे लोग बस्ति भी कहते हैं।

× × × ×

जीवरक्ताशयमुरो ज्ञेयाः सप्ताशयास्त्वमी ।
पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः ।
धरा गर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ ॥

ये ही सात आशय पुरुषों के हैं, किन्तु स्त्रियों के तीन आशय अधिक हैं। जैसे—गर्भाशय और दोनों स्तन्याशय, जहाँ कि बच्चे के लिए दूध एकत्रित होता है।

× × × ×

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।
जायन्तेऽन्योन्यतः सर्वे पाचिताः पित्ततेजसा ॥

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र यानी वीर्य, ये सात धातु हैं। ये सब पित्त के तेज से पचकर उत्तरोत्तर एक से एक धातु उत्पन्न करते जाते हैं। जैसे रस से रुधिर रुधिर से माँस, माँस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है।

—शार्ङ्गधरसंहिता

卐 卐 卐

जय जय जय गुरुदेव

कविवर श्री जनकप्रसाद द्विवेदी झांसी

जय जय जय जय जय गुरुदेव, हमारे जय जय जय गुरुदेव ।
परम तत्व व्यापक तुम ही हो, ब्रह्मा विष्णु महेश ॥
तुम ही दाता तुमहि विधाता,
जग संचालक ज्ञान प्रदाता,
देते ज्ञान जगत को बनकर, शंकर सुअन गनेश ।
परम तत्व व्यापक तुम ही हो, ब्रह्मा विष्णु महेश ॥ जय० ।
तुम ने सत मारग दिखलाया,
योग पंथ का पाठ पढ़ाया,
तुम से हुए प्रकाशित जग में, सूरज अरु राकेश ।
जय जय जय जय जय गुरुदेव, हमारे जय जय जय गुरुदेव ॥
कृपा कोर से शक्ति लुटाते,
भूले भटके पार लगाते,
शरण तुम्हारी हैं सब आते, राजा रंक नरेश ।
जय जय जय जय जय गुरुदेव, हमारे जय जय जय गुरुदेव ॥
लाखों पतित उबारत तुम ही,
परमानन्द लखावत तुम ही,
तेरा पार न पाया प्रभु जी, योगेश्वर करुणेश ।
जय जय जय जय जय गुरुदेव, हमारे जय जय जय गुरुदेव ॥

SIDHAYOGA

Regd. No. L. AG. 08

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

❋ अभ्युदय और निःश्रेयस ❋

वैशेषिक दर्शन की परिभाषा में सांसारिक सुख को, जो पुनर्जन्म का कारण बनता है, 'अभ्युदय' कहा है और पारमार्थिक आत्म-सुख को जो मोक्षरूप होता है, 'निःश्रेयस' कहा है। महर्षि कणाद ने इन दोनों पर समान बल दिया है। उनके अनुसार 'धर्म वही है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो।' गीता में भगवान ने भी इसी बात को मान्यता प्रदान की है।

मनुष्य को चाहिये कि वह ऐहिक जीवन को श्रेष्ठ बनाकर ही पारलौकिक जीवन को सँवारे, क्योंकि मनुष्य संसार में आये बिना और इस जीवन को उन्नत किये बिना मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता। इसलिये उसे चाहिये कि वह सांसारिक भोगों का भोग करते हुए ही मोक्ष-प्राप्ति के प्रति सचेष्ट रहे। गीता में भगवान ने 'पद्मपत्रमिवाम्भसा।' के उदाहरण से इस बात को बड़ी आसानी से समझा दिया है। पानी कमल का जीवन है। वह बिना पानी के विकसित नहीं होता, पर फिर भी वह पानी से लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य इस संसाररूपी पानी में रहकर अपने जीवन-कमल को विकसित करता रहे, पर उन सांसारिक भोगों में लिप्त न हो। वस्तुतः यही सारांश है—सम्पूर्ण गीता का। इसे हम एक प्रकार का 'समन्वयवाद' कह सकते हैं।

❋ ❋ ❋ ❋

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बलई कलां, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८